महामानव बुद्ध



चतुर्थ संस्करण

महामानव बुद्ध को प्रथम बार हमने 1956 में प्रकाशित किया था। पश्चात् इसके दो संस्करण और प्रकाशित किये थे। हमने प्रस्तुत संस्करण को पाठकों के हाथ में पुनः देने में बहुत विलम्ब किया। हमें इस विलम्ब के लिये खेद है।

सन् 1993-94 महापंडित राहुल सांकृत्यायन का शताब्दी वर्ष है। अतः उनके शताब्दी वर्ष में उनके द्वारा लिखित एवं अनुदित सभी ग्रन्थों का नहीं तो कम से कम बुद्ध विहार, रिसालदार पार्क द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों का पुनः मुद्रण कराना हमारा परम कर्तव्य हो गया है। हमको इस चतुर्थ संस्करण को पाठकों के हाथ में उनके शताब्दी वर्ष में देते हुए बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

इसी क्रम में धम्मपद, नवदीक्षित बौद्ध तथा सुत्तद्दवयम को भी पुनः मुद्रण कर पाठकों के हाथ में देने का प्रयास है। आशा है कि विज्ञ पाठक एक अल्प साधन सम्पन्न संस्था के द्वारा प्रकाशित महापंडित राहुल सांकृत्यायन की कृतियों को आदर के साथ स्वीकार करेंगे। और प्रकाशक को राहुल जी के अन्योन्य कृतियों को भी जन सुलभ करने में सहयोग प्रदान करेंगे।

दिनांक :-- 21.12.93

(भिक्षु भ० प्रज्ञानन्द)
अध्यक्ष
भारतीय बौद्ध समिति
लखनऊ

प्रकाशकीय

बुद्ध विहार, लखनऊ से बुद्ध जयन्ती वर्ष का यह चौथा प्रकाशन "महामानव बुद्ध" के रूप में हिन्दी संसार को देते हुए हमें विशेष प्रसन्नता होती है।

महामानव बुद्ध के लेखक महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी ने बुद्ध जयन्ती वर्ष के उपलक्ष में ही इसे सुन्दर सरल भाषा में तैयार किया है। जनवाद के युग में जनवाणी के सर्व प्रथम आश्रयदाता महामानव बुद्ध के जीवन, वाणी और दर्शन तथा उनके पश्चानुयायी महान् साधकों का दिग्दर्शन पाठक इसमें पायेंगे। अतः सर्व साधारण के लिये उपयोगी बौद्ध साहित्य को अधिक से अधिक हिन्दी में लाने के हमारे इस प्रयत्न में, आशा है हिन्दी संसार हाथ बंटायेगा।

इस पुस्तक के प्रूफ संशोधन में उपासक श्री भूलन प्रसाद जी से सहायता मिली। मुद्रण कार्य को शीघ्र सम्पन्न कराने में श्री लक्ष्मीकान्त शास्त्री, श्री शिवदयालसिंह चौरसिया, श्री श्रीनारायण विद्यार्थी जी तथा श्री गयाप्रसाद कुरील जी ने जो सहयोग दिया है, उसके लिये हम उनके आभारी हैं।

२-१०-५६
रिसालदार पार्क

भिक्षु ग० प्रज्ञानन्द
अध्यक्ष,
बुद्ध विहार, लखनऊ



श्रावस्ती में खुदाई से प्राप्त भगवान बुद्ध की एक प्रतिमा

(१)

जोवनो

१. गृहत्याग

सिद्धार्थ गौतम का जन्म ५६३ ई० पू० के आस पास हुआ था। उनके पिता शुद्धोदन को शाक्यों का राजा कहा जाता है, किन्तु हम जानते हैं, कि शुद्धोदन के साथ-साथ भद्दिय और दण्डपाणि को भी शाक्यों का राजा कहा गया, जिससे यही अर्थ निकलता है, कि शाक्यों के प्रजातंत्र की गणसंस्था (सीनेट या पार्लामेंट) के सदस्यों को लिच्छविगण की भाँति राजा कहा जाता था। सिद्धार्थ की माँ मायादेवी अपने मैके जा रही थीं, उसी वक्त कपिलवस्तु से कुछ मील पर लुम्बिनी नामक शालवन में सिद्धार्थ पैदा हुये। उनके जन्म से ३१८ वर्ष बाद तथा अपने राज्याभिषेक के बीसवें साल अशोक ने इसी स्थान पर एक पाषाण स्तम्भ गाड़ा था, जो अब भी वहां मौजूद है। सिद्धार्थ के जन्म के सप्ताह बाद ही उनकी माँ मर गईं, और उनके पालन-पोषण का भार उनकी मौसी तथा सौतेली माँ प्रजापती गौतमी के ऊपर पड़ा। तरुण सिद्धार्थ को संसार से कुछ विरक्त तथा अधिक विचार-मग्न देख, शुद्धोदन को डर लगा, कि कहीं उनका लड़का भी साधुओं के बहकावे में आकर घर न छोड़ जाये, इसके लिये उसने पड़ोसी कोलिय गण (प्रजातंत्र) की सुन्दरी कन्या भद्रा कापिलायनी (या यशोधरा) से विवाह कर दिया। सिद्धार्थ कुछ

दिन और ठहर गये, और इस बीच में उन्हें एक पुत्र पैदा हुआ, जिसे अपने उठते विचार-चन्द्र के ग्रसने के लिये राहु समझ उन्होंने राहुल नाम दिया। वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित (संन्यासी) के दृश्यों को देख उनकी संसार से शक्ति पक्की होगई, और एक रात चुपके से वह घर से निकल भागे। इसके बारे में बुद्ध ने स्वयं चुनार (सुन्सुमारगिरि) में वत्सराज उदयन के पुत्र बोधिराजकुमारसे कहा था (मज्झिम २।४।५)—

'राजकुमार, बुद्ध होने से पहले—मुझे भी होता था—'सुख में सुख नहीं प्राप्त हो सकता, दुःख में सुख प्राप्त हो सकता है। इसलिये....मैं तरुण बहुत काले केशों वाला ही, सुन्दर यौवन के साथ, प्रथम वयस में माता-पिता को अश्रुमुख छोड़ घर से....प्रव्रजित हुआ।..... (पहिले) आलार कालाम (के पास).....गया।'

आलार कालाम ने कुछ योग की विधियाँ बतलाईं, किन्तु सिद्धार्थ की जिज्ञासा उससे पूरी नहीं हुई। वहाँ से चल कर वह उद्दक राम-पुत्त (उद्रक रामपुत्र) के पास गये। वहाँ योग की कुछ बात सीख सके, किन्तु उससे भी उन्हें संतोष नहीं हुआ। फिर उन्होंने बोधगया के पास प्रायः छ वर्षों तक योग-और अनशन की भीषण तपस्या की। इस तपस्या के बारे में वह खुद कहते हैं—

'मेरा शरीर (दुर्बलता) की चरम सीमा तक पहुँच गया था। जैसे.....आसीतिक (अस्सी साल वाले) की गाठें....वैसे ही मेरे अंग प्रत्यंग हो गये थे।.....जैसे ऊँट का पैर वैसे ही मेरा कूल्हा हो गया था। जैसे....सूओं की (ऊँची नीची) पांती वैसे ही पीठ के काँटे हो गये थे। जैसे शाल की पुरानी कड़ियाँ टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं, वैसे ही मेरी पंसुलियाँ हो गई थीं।....जैसे गहरे कुएँ में तारा, वैसे ही मेरी आंखें दिखाई देती थीं। जैसे कच्ची तोड़ी कड़वी लौकी हवा-धूप से चुचक जाती है, मुर्झा जाती है, वैसे ही मेरे सिर की खाल चुचक

मुर्झा गई थी।....उस अनशन से मेरे पीठ के कांठे और पैर की खाल बिलकुल सट गई थी।...यदि मैं पाखाना या पेशाब करने के लिये (उठता), तो वहीं भहरा कर गिर पड़ता। जब मैं काया को सहराते हुए, हाथ से गात्र को मसलता, तो....काया से सड़ो जड़ वाले रोम झड़ पड़ते।....मनुष्य कहते—श्रमण गौतम काला है' कोई.....कहते—'.....काला नहीं श्याम'।.....कोई.....कहते—'.....मंगुरवर्ण है।' मेरा वैसा परिशुद्ध, गोरा (परिअवदात) चमड़े का रंग नष्ट हो गया था। ..

...लेकिन...मैंने इस (तपस्या)...से उस चरम....दर्शन...को न पाया। (तब विचार हुआ) बोधि (ज्ञान) के लिये क्या कोई दूसरा मार्ग है?.....तब मुझे हुआ'—मैंने पिता (शुद्धोदन) शाक्य के खेत पर जामुन की ठंडी छायाके नीचे बैठ....प्रथम ध्यान को प्राप्त हो विहार किया था, शायद वह मार्ग बोधिका हो।....किन्तु इस प्रकार को अत्यन्त कृश पतली काया से वह (ध्यान) सुख मिलना सुकर नहीं है।....फिर मैं स्थूल आहार....दाल-भात....ग्रहण करने लगा। ...उस समय मेरे पास पाँच भिक्षुक रहा करते थे।....जब मैं स्थूल आहार..... ग्रहण करने लगा, तो पाचों भिक्षु.....उदासीन हो चले गये।"

आगे की जीवन-यात्रा के बारे में बुद्ध अन्यत्र कहते हैं—

"मैंने एक रमणीय भूभाग में, वन-खण्ड में एक नदी (निरंजना) को बहते देखा। उसका घाट रमणीय और श्वेत था। यही ध्यान-योग्य स्थान है (सोच) वहाँ बैठ गया। (और)...जन्मने के दुष्परिणाम को जान.....अनुपम निर्वाण को पा लिया...मेरा ज्ञान दर्शन (साक्षात्कार) बन गया, मेरे चित्त की मुक्ति अचल हो गई, यह अन्तिम जन्म है, फिर अब (दूसरा) जन्म नहीं (होगा)।'

सिद्धार्थ का यह ज्ञान-दर्शन था—दुःख है, दुःख का हेतु (समुदय), दुःख का निरोध-(विनाश) है और दुःख-निरोध का मार्ग। जो धर्म (वस्तुयें घटनायें) हैं, वह हेतु से उत्पन्न होते हैं।

उनके हेतु को बुद्ध ने कहा। और उनका जो निरोध है (उसे भी)। ऐसा मत रखनेवाला महाश्रमण है।'

सिद्धार्थ ने उनतीस साल की आयु (५३४ ई० पू०) में घर छोड़ा। छै वर्ष तक योग-तपस्या करने के बाद ध्यान और चिन्तन द्वारा ३६ वर्ष की आयु (५२८ ई० पू०) में बोधि (ज्ञान) प्राप्त कर वह बुद्ध हुये। फिर ४५ वर्ष तक उन्होंने अपने धर्म (दर्शन) का उपदेश कर ८० वर्ष की उम्र में ४८३ ई० पू० में कुसीनारा में निर्वाण प्राप्त किया।

२. साधारण विचार

बुद्ध होने के बाद उन्होंने सबसे पहिले अपने ज्ञान का अधिकारी उन्हीं पाँचों भिक्षुओं को समझा, जो कि अनशन त्यागने के कारण पतित समझ उन्हें छोड़ गये थे। पता लगाकर वह उनके आश्रम ऋषि-पतन मृगदाव (सारनाथ, बनारस) पहुँचे। बुद्ध का पहिला उपदेश उसी शंका को हटाने के लिये था, जिसके कारण कि अनशन तोड़ आहार आरम्भ करने वाले गौतम को वह छोड़ गये थे। बुद्ध ने कहा। (संयुक्त ५५। २। १)—

'भिक्षुओ, इन दो अतियों (चरम-पंथों) को....नहीं सेवन करना चाहिये। —(१)—काम-सुख में लिप्त होना,—(२)—शरीर पीड़ा में लगना।—इन दोनों अतियों को छोड़—(मैं) ने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है, (जो कि) आँख देनेवाला, ज्ञान करानेवाला—शान्ति (देने) वाला है।—वह (मध्यम-मार्ग) यही आर्य (श्रेष्ठ) अष्टांगिक (आठ अंगों वाला) मार्ग है, जैसे कि—ठीक दृष्टि (दर्शन), ठीक संकल्प, ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक जीविका, ठीक प्रयत्न, ठीक स्मृति और ठीक समाधि।

(१) चार आर्य-सत्य—

दुःख, दुख–समुदय (हेतु), दुःख - निरोध, दुःख - निरोधगामी मार्ग—जिनका जिक्र अभी हम कर चुके हैं, इन्हें बुद्ध ने आर्य-सत्य —श्रेष्ठ सच्चाइयाँ—कहा है।

(क) दुःख-सत्य की व्याख्या करते हुये बुद्ध ने कहा है—'जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, मरण....शोक-रुदन—मन की खिन्नता—हैरानगी दुःख है। अ-प्रिय से संयोग, प्रिय से वियोग भी दुःख है। इच्छा करके जिसे नहीं पाता वह भी दुःख है। संक्षेप में पाँचों उपादान स्कन्ध-दुःख है।'

पाँच उपादान स्कंध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान —यही पाँचों उपादान स्कंध हैं।

(a) रूप—चारों महाभूत—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, यह रूप-उपादान-स्कंध हैं।

(b) वेदना—हम वस्तुओं या उनके विचार के सम्पर्क में आने पर जो सुख, दुख या न सुख-दुख के रूप में अनुभव करते हैं, इसे ही वेदना-स्कंध कहते हैं।

(c) संज्ञा—वेदना के बाद मस्तिष्क पर पहिले से ही अंकित संस्कारों द्वारा जो हम पहिचानते हैं—'यह वही देवदत्त है', इसे संज्ञा कहते हैं।

(d) संस्कार—रूपों की वेदनाओं और संज्ञाओं का जो संस्कार मस्तिष्क पर पड़ा रहता है, और जिसकी सहायता से हमने पह-चाना—'यही वह देवदत्त हैं,' इसे संस्कार कहते हैं।

(e) विज्ञान—चेतना या मन को विज्ञान कहते हैं।

ये पाँचों स्कंध जब व्यक्ति की तृष्णा के विषय होकर पास आते

हैं, तो इन्हें ही उपादान स्कंध कहते हैं। बुद्ध ने इन पांचों उपादान स्कंधों को दुःख-रूप कहा है।

(ख) दुःख-हेतु:दुःख का हेतु क्या है? तृष्णा—काम (भोग) की तृष्णा, भवकी तृष्णा, विभव की तृष्णा। इन्द्रियों के जितने प्रिय विषय या काम हैं, उन विषयों के साथ सम्पर्क, उनका ख्याल, तृष्णा को पैदा करता है। 'काम (प्रिय भोग) के लिये ही राजा भी राजाओं से लड़ते हैं, क्षत्रिय भी क्षत्रियों से, ब्राह्मण भी ब्राह्मणों से, गृहपति (वैश्य) भी गृहपति से, माता भी पुत्र से, पुत्र भी माता से, पिता पुत्र से, पुत्र पिता से, भाई भाई से, बहिन भाई से, भाई बहिन से, मित्र मित्र से लड़ते हैं। वह आपस में कलह-विग्रह-विवाद करते एक दूसरे पर हाथ से भी, दंड से भी, शस्त्र से भी आक्रमण करते हैं। वह (इससे) मर भी जाते हैं, मरण-समान दुःख को प्राप्त होते हैं।

(ग) दुःख-विनाश—उसी तृष्णा के अत्यन्त निरोध परित्याग विनाश को दुःख-निरोध कहते हैं। प्रिय विषयों और तद् विषयक विचारों-विकल्पों से जब तृष्णा छूट जाती है, तभी तृष्णा का निरोध होता है।

तृष्णा के नाश होने पर उपादान (विषयों के संग्रह करने) का निरोध होता है। उपादान के निरोध से भव (लोक) का निरोध होता है, भव निरोध से जन्म (पुनर्जन्म) का निरोध होता है। जन्म के निरोध से बुढ़ापा, मरण, शोक, रोना, दुःख, मन की खिन्नता, हैरानी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार दुःखों का निरोध होता है।

यही दुःखनिरोध बुद्ध के सारे दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है।

घ. दुःख-विनाश का मार्ग—दुःख-निरोध की ओर ले जानेवाला मार्ग क्या है?—आर्य अष्टांगिक मार्ग जिसे पहिले बतला आये हैं। आर्य-अष्टांगिक मार्ग की आठ बातों को ज्ञान (=प्रज्ञा), सदाचार

(ख) ठीक आचार—

ठीक वचन—झूठ, चुगली, कटुभाषण, और बकवाससे रहित सच्ची मीठी बातों का बोलना।

ठीक कर्म—हिंसा-चोरी-व्यभिचार-रहित कर्म ही ठीक कर्म है।

ठीक जीविका—झूठी जीविका छोड सच्ची जीविका से शरीर-यात्रा चलाना। उस समय के शासक शोषक समाज द्वारा अनुमोदित सभी जीविकाओं में प्राणि-हिंसा सम्बन्धी निम्न जीविकाओं को ही बुद्ध ने झूठी जीविका कहा—

'हथियारका व्यापार, प्राणिका व्यापार, मांसका व्यापार, मद्यका व्यापार, विषका व्यापार।'

(ग) ठीक समाधि—

ठीक प्रयत्न (व्यायाम)—इन्द्रियों पर संयम, बुरी भावनाओं को रोकने तथा अच्छी भावनाओं के उत्पादनका प्रयत्न, उत्पन्न अच्छी भावनाओं को कायम रखने का प्रयत्न—ये ठीक प्रयत्न हैं।

ठीक स्मृति—काया, वेदना, चित्त और मन के धर्मों की ठीक स्थितियों,—उनके मलिन, क्षण-विध्वंसी आदि होने—का सदा स्मरण रखना।

ठीक समाधि—"चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं'। ठीक समाधि वह है, जिससे मनके विक्षेपों को हटाया जा सके। बुद्धकी शिक्षाओं को अत्यन्त संक्षेप में एकपुरानी गाथा में इस तरह कहा गया है—

'सारी बुराइयोंका न करना, और अच्छाइयोंका सम्पादन करना, अपने चित्तका संयम करना, यह बुद्धकी शिक्षा है।'

अपनी शिक्षाका क्या मुख्य प्रयोजन है, इसे बुद्धने इस तरह बतलाया है—

'भिक्षुओं, यह ब्रह्मचर्य (भिक्षुका जीवन) न लाभ-सत्कार-प्रशंसाके लिये है, न शील (सदाचार) की प्राप्तिके लिये, न समाधि प्राप्तिके लिये, न ज्ञान-दर्शन के लिये है। जो अटूट चित्तकी मुक्ति है, उसी के लिये... यह ब्रह्मचर्य है, यही सार है, यही उसका अन्त है।

बुद्धके दार्शनिक विचारों को देनेसे पूर्व उनके जीवनके बाकी अंशको समाप्त कर देना जरूरी है।

सारनाथ में अपने धर्मका प्रथम उपदेश कर, वहीं वर्षा बिता, वर्षाके अन्त में स्थान छोडते हुये प्रथम बार चार मासों में हुये अपने साठ शिष्यों को उन्होंने इस तरह संबोधित किया—

'भिक्षुओ, वहुत जनों के हितके लिये, बहुत जनोंके सुखके लिये, लोकपर दया करने के लिये, देव-मनुष्यों के प्रयोजन-हित-सुखके लिये विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। मैं भी—उरुवेला...सेनानी ग्राम में....धर्म-उपदेशके लिये जा रहा हूँ।'

इसके बाद ४४ वर्ष बुद्ध जीवित रहे। इन ४४ वर्षोंके बरसात के तीन मासोंको छोड़ वह बराबर विचरते, जहां-तहां ठहरते, लोगों को अपने धर्म और दर्शनका उपदेश करते रहे। बुद्धने बुद्धत्व प्राप्तिके बादकी ४४ बरसातों को निम्न स्थानों पर बिताया। (अंगु-०अ० क०-२।४।५)

स्थान	ई० पू०
लुंबिनी में जन्म	६५३
बोधगया में बुद्धत्व	५२८
१. ऋषिपतन (सारनाथ)	५२८
२-४. राजगृह	५२७ २५
५. वैशाली	५२४

(२)

जेतवन-दान

भारत के सम्पूर्ण इतिहास में यदि बुद्ध की किसी पुरुष से तुलना की जा सकती है, तो वह महात्मा गांधी ही हो सकते हैं, यद्यपि बुद्ध का व्यक्तित्व तब भी ऊँचा है। पर यदि और बातों में बुद्ध बहुत ऊँचे सिद्ध होंगे, तो असंख्य भारतीय जनता के मुक्ति सेनानी होकर गांधी जी भी आगे बढ़े हैं। बुद्ध अपने समय के सभी वर्गों में प्रिय रहे, यह आश्चर्यकर नहीं, खासकर जब कि हम अभी-अभी गांधी जी को वैसा ही देख चुके हैं। बुद्ध वर्ण-व्यवस्था और यज्ञ-बलि के विरोधी थे, तो भी कुटदन्त, सोणदण्ड जैसे राजमान्य महाविद्वान् ब्राह्मण उनके चरणों में झुकते थे। बुद्ध अपने भिक्षु-संघ द्वारा एक दूसरे ही समाज के निर्माण का स्वप्न देख रहे थे, जिसमें आर्थिक समानता तथा जनतांत्रिक विधान को सर्वमान्य माना जायेगा; तो भी मगध, कोसलके राजा, वैशाली और कुसीनारा के गणराजे उनके सेवा-सत्कारों में होड़ लगाये रहते थे। सबसे उत्पीड़ित जातियों—जिन्हें आज हम हरिजन कहते हैं—के उद्धार में तो वह मुख से नहीं काम से उदाहरण पेश करते थे। उनके भिक्षु-संघ में चाण्डाल और ब्राह्मण एक समान थे। दोनों में परस्पर अभिवादन करने के लिए सिर्फ इसका ध्यान दिया जाता था, कि कौन पहले भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हुआ। उस समय

व्यापारी-वर्ग एक बड़ी शक्ति बन गया था। आधुनिक यातायात के साधन नहीं थे, पर जो भी जल और स्थल के साधन उपलब्ध थे, उनका पूरी तौर से उपयोग किया जाता था। नदियों में बड़ी-बड़ी नावें चलती थीं। कुछ नदियाँ ऐसी थीं, जो सिर्फ बरसात के दो महीने ही नौ-यात्रा का काम कर सकती थीं, उन्हें भी इस्तेमाल किया जाता था, उदाहरणार्थ आजमगढ, बलिया, गाजीपुर जिलों की मगंही। समुद्रों में व्यापारियों के जहाज चलते थे। हमारे यहां के तैयार माल की हर जगह बड़ी मांग थी। उस समय के सागर सार्थवाहों में कितने ही करोड़पति थे। स्थल-मार्गोंपर अधिकतर बैलगाडियोंके सार्थ (कारवां) चला करते थे। श्रावस्ती काशी-कोसल की राजधानी थी, राजगृह अंग-मगध की, कौशाम्बी वत्स-की, उज्जयिनी अवन्तीकी, तक्षशिला गन्धार की। इन राजधानियों के अतिरिक्त अंग देश में भद्दिया, काशी देश में वाराणसी, लाट में भरुकच्छ (भड़ौच) और लाटमें शूर्पारिक (सुपारा) आदि कितनी ही वाणिज्य द्वारा समृद्ध नगरियां थीं, जिनमें अनेक सेठ रहा करते थे। मध्य देश के अनेक सेठ बुद्ध के भक्त थे। इनमें धन और सम्मान के लिहाज से श्रावस्ती के श्रेष्ठी सुदत्त का स्थान बहुत ऊँचा था।

सुदत्त यथानाम तथागुण पुरुष थे। उनका व्यापार उस समय के सारे सभ्य भारतमें फैला हुआ था। वह बड़े मुक्त-हस्त थे। अनाथों के लिये उनका भण्डार खुला रहता था, जिसके ही कारण उनके असली नामको बहुत कम लोग जानते थे, और उन्हें अनाथपिण्डक (अनाथों को ग्रास देनेवाला) कहा जाता था। आयु में वह सम्भवतः बुद्ध के समान थे। उनका परिचय भी बुद्ध से आरम्भिक काल में ही हो गया था। बुद्ध होने के चार या पांच साल बाद पहले पहल अनाथ पिण्डक ने इस भव्य पुरुष का दर्शन कर उपदेश सुना। उसी समय वह बुद्ध-भक्त बन गये। संयुक्त-निकाय के एक सूक्त (११।१।८) में आता है—

'ऐसा मैंने सुना—एक समय भगवान् राजगृह के सीतवन में विहार करते थे।

'उस समय अनाथपिण्डक गृहपति—जो राजगृह-श्रेष्ठी का बहनोई था—किसी काम से राजगृह गया। राजगृहक-श्रेष्ठी ने संघ-सहित बुद्ध को दूसरे दिनके लिये निमन्त्रण दे रक्खा था। इसलिये उसने दासों और कम-करों को आज्ञा दी—'

'तो भणे, समय पर ही उठकर खिचड़ी पकाओ, भात पकाओ। सूप (तेमन) तैयार करो——।' अनाथपिण्डक गृहपति को हुआ— "पहिले मेरे आने पर यह गृहपति, सब काम छोड़कर मेरी ही आव-भगत में लगा रहता था। आज विक्षिप्त सा दासों कर्म-करों को आज्ञा दे रहा है—'तो भणे, समय पर०।' क्या इस गृहपति के यहां आवाह होगा या विवाह होगा या महायज्ञ उपस्थित है, या लोग-बाग-सहित मगध-राज श्रेणिक बिम्बिसार कल के लिये निमन्त्रित किये गये हैं ?'

'राज-गृहक श्रेष्ठी दासों और कर्मकरों को आज्ञा देकर, जहां अनाथपिण्डक गृहपति था, वहां आया। आकर अनाथपिण्डक गृहपति के साथ प्रणामापाती कर एक ओर बैठ गया। राजगृह श्रेष्ठी से अनाथपिण्डक गृहपति ने कहा—'पहिले मेरे आने पर तुम गृहपति ।०'

'गृहपति, मेरे यहां न आवाह है, न विवाह है। न ०मगध-राज० निमन्त्रित किये गये हैं। कल मेरे यहां बड़ा यज्ञ है। संघ-सहित बुद्ध कलके लिये निमन्त्रित हैं।'—

'गृहपति, 'बुद्ध' यह शब्द भी लोक में दुर्लभ है। गृहपति, क्या इस समय उन भगवान् अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध के दर्शन के लिये जाया जा सकता है ?'

'गृहपति, यह समय उन भगवान अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध के दर्शनार्थ जाने का नहीं है।'

'तब अनाथपिण्डक गृहपति—'अब कल समय पर उन भगवान्० के दर्शनार्थ जाऊंगा' इस बुद्ध-विषयक स्मृति को (मन में) ले सो रहा। रात को सबेरा समझ तीन बार उठा। तब अनाथपिण्डक गृहपति जहाँ (राजगृह नगर का) शिव द्वार था, वहाँ गया। अ-मनुष्यों (देव आदि) ने द्वार खोल दिया। अनाथपिण्डक० के नगर से बाहर निकलते ही प्रकाश अन्तर्धान हो गया, अन्धकार प्रादुर्भूत हुआ। उसे भय, जड़ता और रोमांच उत्पन्न हुआ। अनाथ पिण्डक गृहपति सीतवन में गया। उस समय भगवान् रात के भिनसार काल में उठकर चौडे में टहल रहे थे। भगवान् ने अनाथपिण्डक गृहपति को दूर से देखा। देखकर टहलने की जगह से उतर कर, बिछे आसन पर बैठ अनाथपिण्डक गृहपति से बोला—'आ सुदत्त।' अनाथपिण्डक गृहपति 'भगवान् मुझे नाम लेकर बुला रहे हैं' यह सोच फूला न समाता जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान् के चरणों में शिर से पड़कर बोला—

'भन्ते, भगवान् को निद्रा सुख से तो आई?'

'निर्वाण-प्राप्त (वह) ब्राह्मण सर्वदा सुख से सोता है।

जो शीतल दोष-रहित हो काम-वासनाओं में लिप्त नहीं होता।

सारी आसक्तियों को खंडित कर हृदय से डर को हटाकर,

चित्तकी शान्ति को प्राप्त कर उपशान्त हो वह सुखसे सोता है।'

बुद्ध के उपदेश को सुन कर अनाथपिंडक ने बुद्ध, धर्म और संघ की शरणों में आ उपासक बन अगले दिन शिष्यमण्डली के साथ बुद्ध को भोजन कराया। भोजनोपरान्त उसने भगवान् से कहा—'भिक्षु-संघ के साथ भगवान् श्रावस्ती में वर्षावास स्वीकार करें।'

भगवान् ने कहा—'गृहपति, तथागत एकान्त आगार पसन्द करते हैं।'

अनाथपिण्डक राजगृह से श्रावस्ती जाते समय मार्ग में लोगों को सब जगह कहते गये—'आर्यो, आराम बनवाओ, विहार स्थापित करो। लोक में बुद्ध उत्पन्न हो गये हैं। उन भगवान् को मैंने निमंत्रित किया है। वह इस मार्ग से आवेंगे।'

श्रावस्ती लौट कर अनाथपिण्डक ऐसा स्थान ढूँढने लगे, जो बस्ती से न बहुत दूर हो, न बहुत समीप। इच्छा रखनेवाले जहां आसानी से आ-जा सकें। दिन में जहाँ कम भीड़ हो और रात में हल्ला-गुल्ला न हो। ऐसा स्थान श्रावस्ती से दक्षिण-पश्चिम के कोने पर अवस्थित राजकुमार जेत का उद्यान (वन) मालूम हुआ। उसने राजकुमार से वह वन मांगा। राजकुमार ने कहा, यदि रुपयों से बिछा कर खरीदना चाहो, तो भी उसे मैं नहीं दे सकता। मोल-भावकी बात मुंह निकलने से जेत पकड़े गये, और जजने फैसला दिया, कि यदि श्रेष्ठी कोने से कोना मिला कर सिक्कों से भूमि को ढंक दें, तो वह उद्यान ले सकता है। श्रावस्ती आजकल सहेट के नाम से गोंडा जिले में उजाड़ पड़ा हुआ स्थान है और जेतवन महेट का ध्वंसावशेष है। पालि-ग्रंथों में सिक्के का नाम हिरण्य (अशर्फी) बतलाया गया है। हिरण्य का नाम आता तो जरूर है, लेकिन अभी तक कोई भी सोने का वैसा सिक्का नहीं मिला। चाँदी और ताँबे के चौकोर सिक्के जरूर होते थे। यदि चाँदी का पंचमार्क सिक्का लिया जाये, तो वह १६६ से १७५ ग्रेन का पाया गया है। हमारा रुपया १७८ ग्रेन (एक तोला) के बराबर होता है। पालि-ग्रंथों में लिखा है, कि अनाथपिण्डक ने १८ करोड़ कार्षापणों को बिछा कर जेतवन को खरीदा। बुद्ध के निर्वाण के ढाई सौ वर्ष बाद ही जने भरहुत के स्तूप में पंचमार्क सिक्कों को बिछा कर जेतवनको लेने को अंकित किया गया है, जिसमें जेतवनके 'कोटि सन्ठतेन केते' (किनारे से सिक्के बिछा कर ख़रीदा) लिखा हुआ है। इससे आज से साढ़े २२०० वर्ष पहले का यह उल्लेख बतलाता है, कि अनाथपिंडक

ने भारी रकम खर्च करके जेतवन को खरीदा था। १८ करोड़ कार्षापणों से १४. ३५ एकड़ जमीन ढंकेगी। आजकल जेतनवन का मुख्य भाग १४. ७ एकड़ है। बुद्ध ने अपने जीवन के सबसे अधिक (२५) वर्षावास यहीं बिताये। त्रिपिटक में संगृहीत उनके सबसे अधिक उपदेश यहीं दिये गये। जेतवन बौद्ध-जगत् के लिये बहुत पूज्य और प्रिय स्थान है। १६३१ में श्रीलंका के बहुत से महाविद्वान् और माननीय भिक्षु महास्थविर लु० धम्मानन्द पाद के साथ जेतवन के दर्शन के लिये गये। जहाँ कभी हजारों भिक्षु रह कर ज्ञान-ध्यान किया करते थे, दर्जनों एकड़ भूमि में जहाँ उनके सुन्दर आवास बने हुये थे, अब वह जेतवन ध्वस्त पड़ा हुआ था। पुरातत्व-विभाग ने खोदाई करके पुरानी इमारतों की नींवें निकाल बाहर की थीं। भरहुत के शिलापट्ट से यह भी पता लग गया था, कि दो मुख्य कुटियाँ-गंधकुटी और कोसम्बकुटी-कहाँ हो सकती हैं। इन्हीं में ही बुद्ध-निवास किया करते थे। महास्थविर धम्मानन्द पाद के मुंह से पुरानी पालि गाथा निकली—

इदं जेतवनं पुञ्ञ इसिसंघेहि सेवितं
(ऋषियों से सेवित यह जेतवन)

यह कहते-कहते उनका गला रुँध गया और आँखों से अविरल अश्रुधारा निकलने लगी। बुद्ध के निवास से परमपुनीत इस स्थान की यह अवस्था होगी, इसकी भला उन्हें कभी कल्पना भी हो सकती थी? पिछले सात सौ वर्षों तक बुद्ध और उनका धर्म देश से निर्वासित रहा। आज बुद्ध बड़े गौरव के साथ अपनी जन्मभूमि में लौट रहे हैं, इसे क्या कहने की आवश्यकता है? हम देख रहे हैं, हमारी धर्म-निरपेक्ष सरकार भी बुद्ध की २५ वीं निर्वाण-शताब्दी के मनाने में डेढ़ करोड़ रुपया खर्च कर रही है।

अनाथपिण्डक अपने जीवन के अन्तिम समय में घाटे के कारण

(३)

अंतिम वर्ष

बुद्ध के निर्वाण का समय ईसा-पूर्व ४८३ ऐतिहासिकों ने निश्चित किया है। प्राचीन परम्परा उसमें साठ वर्ष और जोड़ देती है। इस प्रकार ५४३ या ५४४ होकर १९५६ की मई में निर्वाण के २५०० वर्ष पूरे होते हैं। निर्वाण से ८० वर्ष पहले बुद्ध का जन्म लुम्बिनी में हुआ था। परम्परा के अनुसार देखने पर बुद्ध का अन्तिम वर्ष ईसा-पूर्व ५४५ के वैशाख पूर्णिमा से ५४४ के वैशाख पूर्णिमा तक होता है। ऐतिहासिकों के अनुसार वह ईसा-पूर्व ४८४ की गर्मियों से ४८३ की गर्मियों तक होगा। उस एक वर्ष का वर्णन त्रिपिटक के दीघनिकाय के महापरिनिर्वाण-सूत्र में मिलता है। पिटक की तरह महापरिनिर्वाणसूत्र भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न थे, जिनमें से कितनों का अनुवाद चीनी और तिब्बती भाषाओं में पाया जाता है। एक चीनी महापरिनिर्वाणसूत्र का संस्कृत में पुनः अनुवाद इन पंक्तियों के लेखक ने करके उदयपुर की शोधपत्रिका में छपवाया है।

चीनी अनुवाद में भी सूत्र का आरम्भ राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर आरम्भ होता है, और पालि त्रिपिटक में भी। चीनी अनुवाद में अजातशत्रु का महामात्य वर्षकार बुद्ध के पास जा वैशाली के वज्जियों के बल का कारण जानना चाहता है। यही बात पालि में

में भी है। बुद्ध राजतन्त्र के नहीं, बल्कि गणराज्य के पक्षपाती थे, उसी के आदर्श पर उन्होंने अपने संघ का निर्माण किया। संघ की सारी कार्रवाई, वोट (छन्द)-ग्रहण और दूसरी बातें वही थीं, जिनके अनुसार वैशाली या दूसरे गणों के लोग अपना कार्य चलाते थे। वह कभी नहीं पसन्द कर सकते थे कि वैशाली जैसा समृद्ध गणराज्य किसी राजा के पैरों में लोटे। भारत का वैशाली गण और ग्रीस का एथेन्स गण एक ही समय में थे। एथेन्स की बात को लिख कर सुरक्षित करने वाले लोग मिल गये, जब कि वैशाली के उपेक्षक ही पैदा होते रहे। इसलिये उसके गौरवशाली इतिहास के बारेमें हम बहुत कम जान पाते हैं। पर, वैशाली एथेन्स से कहीं अधिक बलशाली थी। उसकी शक्ति और वीरता का तो यही प्रमाण है, कि उस समय का सबसे शक्तिशाली मगधराज अजातशत्रु अनेक बार कोशिश करके भी लिच्छवियों के सामने हारने के लिये मजबूर हुआ। झगड़ेका कारण पालि अट्ठकथा (भाष्य)-कार बतलाते हैं:—

गंगा के घाट के पास आधा योजन अजातशत्रु का राज्य था, और आधा योजन लिच्छवियों का।.... वहाँ पर्वत के पाद (जड़) से बहुमूल्य सुगंध-वाला माल उतरता था। उसको सुनकर अजात-शत्रु के 'आज जाऊँ कल जाऊँ' करते ही, लिच्छवि एक राय, एकमत हो पहिले ही जाकर सब ले लेते थे। अजातशत्रु पीछे जाकर उस समाचार को पा क्रुद्ध हो लौट जाता था। वह दूसरे वर्ष भी वैसा ही करते थे। तब उसने अत्यन्त कुपति हो....सोचा—गण (राज्य) के साथ युद्ध करना मुश्किल है। (उनका) एक भी प्रहार बेकार नहीं जाता। किसी एक पंडित के साथ मंत्रणा करके काम करना अच्छा होगा।....सो उसने वर्षकार ब्राह्मण को भेजा।' (दी० नि० अ० क०)

अजातशत्रु ने संकल्प किया था—'मैं वैभवशाली वज्जियों को उच्छिन्न करूंगा, वज्जियोंका विनाश करूंगा, उनपर आफत ढाऊंगा' लेकिन

यह कोरा गाल बजाना साबित हुआ था। अजातशत्रुकी प्रेरणा से महामन्त्री ने बुद्ध से इसके बारे में पूछा। बुद्ध को यह प्रश्न नहीं रुचा, उन्होंने वर्षकार को नहीं, बल्कि अपने पीछे खड़े आनन्दको सम्बोधित करते हुये कहा :

'आनन्द, क्या तूने सुना है, वज्जी बराबर बैठक में इकट्ठा (सन्निपात) होते हैं, सन्निपात-बहुल हैं ?'

'सुना है, भन्ते, वज्जी बराबर बैठक में इकट्ठा होते हैं।'

'आनन्द, जब तक वज्जी (बैठक में) इकट्ठा होते रहेंगे, सन्नि पात-बहुल रहेंगे, (तब तक) आनन्द, वज्जियों की वृद्धि ही समझना, हानि नहीं। (२) क्या आनन्द, तूने सुना है वज्जी एक हो बैठक करते हैं, एक हो उत्थान करते हैं,वजी एक हो करणीय (कर्तव्य) को करते हैं ?'

'सुना है, भन्ते।०।'

'आनन्द, जब तक०। (३) क्या ० सुना है, वज्जी अ-प्रज्ञप्त (गैरकानूनी) को प्रज्ञप्त (विहित) नहीं करते, प्रज्ञप्त (विहित) का उच्छेद नहीं करते। जैसे प्रज्ञप्त है, वैसे ही पुराने वज्जि-धर्म (वज्जि नियम) को ग्रहण कर बर्तते हैं ?'

'सुना है, भन्ते।'

'आनन्द ०। जब तक ०। (४) क्या आनन्द, तूने सुना है—वज्जियों के जो महल्लक (वृद्ध) हैं, उनका (वह) सत्कार करते हैं, गुरुकार करते हैं, मानते हैं, पूजते हैं, उनकी बात सुनने योग्य मानते हैं।

'भन्ते, सुना है०।'

'आनन्द, जब तक कि ०। (५) क्या सुना है—जो वह कुलस्त्रियाँ हैं, कुल-कुमारियां हैं, उन्हें (वह) छीन कर, जबर्दस्ती नहीं बसाते ?'

'भन्ते, सुना है ०।'

'आनन्द, ० जब तक ०। (६) क्या ० सुना है—वज्जियों के (नगर के) भीतर या बाहर के जो चैत्य (चौरा-देवस्थान) हैं, उनका सत्कार करते हैं, ० पूजते हैं। उनके लिये पहले किये गये दान का, पहिले की गई धर्मानुसार बलि (वृत्ति) का, लोप नहीं करते ?'

'भन्ते, सुना है ०।'

'जब तक ०। (७) क्या सुना है, वज्जी लोग अर्हतों (पूज्यों) की अच्छी तरह धार्मिक (धर्मानुसार) रक्षा-आवरण-गुप्ति करते हैं। किस लिये ? भावी अर्हन् राज्य में आवें, आये अर्हत् राज्य में सुख से विहार करें।'

'सुना है भन्ते।०।'

बुद्ध के ये सात अपरिहारणीय धर्म अब भी पुराने नहीं हुये हैं। किसी भी गण राज्य-के ये अच्छे पथ-प्रदर्शक हैं। महाभारत ने भी गणों में घरेलू झगड़े को ही सबसे खतरे की बात बतलाई है। बुद्ध-निर्वाण के तीन साल बाद अजातशत्रु हथियारों से नहीं, बल्कि फूट फैला कर वैशाली को जीत सका।

पालि सूत्र में राजगृह से भगवान् के अम्बलट्ठिका जाने तथा वहां सारिपुत्र से संवाद की बात लिखी है। राजगृह से पटना जाने में आज की तरह उस समय भी अम्बलट्ठिका पड़ती थी। शायद वह नालन्दा और राजगृह के बीच में अवस्थित सिलाव था। चीनी सूत्र में इसका जिक्र नहीं है, जो अधिक युक्तियुक्त है। वस्तुतः सारिपुत्र का निर्वाण इससे पहले ही हो चुका था, इसलिये वह अम्बलट्ठिका में बात करने के लिये नहीं आ सकते थे। चीनी सूत्र में राजगृह के बाद बुद्ध के पाटलिपुत्र (पटना) पहुँचने की बात आई है। पालि में अम्बलट्ठिका से पाटलिग्राम जाना बतलाया गया है।

उस वक्त पाटलिग्राम में अजातशत्रु के मन्त्री वर्षकार और सुनीथ गंगा के किनारे नगर बसाने में लगे हुये थे। यह भी वैशालीगण के भय के कारण ही। अजातशत्रु वैशाली वालों का क्या बिगाड़ सकता था? उसके आक्रमण का यही फल होता था कि लिच्छवि गंगा पार हो पाटलिग्राम में महीनों कैम्प डाले पड़े रहते और अजातशत्रु को राजगृह के पहाड़ों में घुसे रहने के लिये मजबूर होना पड़ता। पाटलिग्राम में नगर पूरी योजना के साथ बनाया जा रहा था। राजा राजामात्यों, सेठों और साधारण लोगों के मुहल्ले निश्चित किये गये थे। बुद्ध के आने पर वर्षकर ने अपने यहां उन्हें भोजन के लिये निमंत्रित किया। भोजन के बाद जिस घाट से वह गंगा उतरे, उसका नाम गौतम घाट रक्खा गया और नगर के उस द्वारका नाम गौतम द्वार। चीनी और पालि दोनों सूत्रों में गंगा पार हो बुद्ध के कोटिग्राम में जाने का उल्लेख है। वहां से नादि का, और फिर वैशाली के उपनगर में अम्बपालि के बगीचे में जाकर ठहरे। नगर की गणिका अम्बपालि ने अगले दिन के लिये भोजन का निमंत्रण दिया, बुद्ध ने उसे स्वीकार किया। वैशाली के लिच्छवि चूक गये। कुछ देर बाद वह बुद्ध को निमंत्रित करने के लिये अपने रथों पर आ रहे थे। 'अम्बपालि गणिकाने तरुण-तरुण लिच्छवियों के (रथ के) धुरों से धुरा, चक्कों से चक्का, जूयेसे जूआ टकरा दिया।' लिच्छवियों को अम्बपालि की इस धृष्टता को देखकर आश्चर्य हुआ। पूछने पर अम्बपालि ने कारण बतलाते हुये कहा—'आर्यपुत्रो, क्योंकि मैंने भिक्षु-संघके साथ भगवान् को कल के भोजन के लिये निमंत्रित किया है।' हां, गणिका के भोजन को तथागत ने स्वीकार किया था।

भगवान् ने दूर से ही लिच्छवियों को आते देखकर अपने शिष्यों से कहा—'अवलोकन करो भिक्षुओ, लिच्छवियों की मण्डली को। अवलोकन करो भिक्षुओ, लिच्छवियों की मण्डली को। भिक्षुओ लिच्छवियों की मण्डली को देव-मण्डली समझो। 'बुद्ध के इस

वाक्य में उनके उस भाव की झलक आ रही है, जो कि उनके हृदय में गणों के प्रति था। लिच्छवियों के निमंत्रण को वह स्वीकार नहीं कर सकते थे।

आषाढ़ की पूर्णिमा आ गई थी। चौमासे में साधु लोग यात्रा नहीं किया करते थे। वर्षाकाल के लिये भिक्षुओं को एक जगह निवास करना था। भगवान् वेणुग्राम नामक छोटे से एक गांव में वर्षावास के लिये गये, और अपने शिष्यों से कहा, कि वैशालीके चारों ओर अनुकूल स्थान में चौमासा (सावन, भादो, क्वार) रहो। इसी समय बुद्ध को कडी बीमारी हुई, 'मरणान्तक पीडा होने लगी।'

बीमारी से उठे, विहार से निकल कर उसकी छाया में आसन पर बैठे थे। भगवान् ने आयुष्मान आनन्द को निराश देखकर कहा—'आनन्द, भिक्षु-संघ क्या चाहता है? आनन्द, मैंने न-अन्दर न-बाहर कर 'खोल कर' धर्म-उपदेश कर दिये। आनन्द, धर्मों में तथागत को कोई आचार्य-मुष्टि (रहस्य) नहीं है। आनन्द, जिसको ऐसा हो, कि मैं भिक्षु-संघ का महन्त हूँ, भिक्षु-संघ मेरे उद्देश्य से है, वह जरूर ०। भिक्षु-संघ के लिये कुछ कहे। आनन्द, तथागत को ऐसा नहीं है····। आनन्द, तथागत भिक्षु-संघके लिये (और) क्या कहेंगे? आनन्द, मैं जीर्ण-वृद्ध-महल्लक-अध्वगत-वय:प्राप्त हूँ। अस्सी वर्ष की मेरी उम्र है। आनन्द, जैसे जीर्ण-शकट बांध-बूंध कर चलता है, ऐसे ही मानो तथागत का शरीर बांध-बूंध कर चल रहा है। आनन्द, जिस समय तथागत सारी बातों को मन में न करने से, किन्हीं-किन्हीं वेदनाओं के निरुद्ध होने से, एकाग्रता को प्राप्त हो बिहरते हैं, उस समय····तथागत का शरीर बेहतर होता है। इसलिये आनन्द, (तुम लोग) आत्मदीप-आत्मशरण-अनन्य-शरण, धर्मदीप-धर्मशरण-अनन्य शरण हो विहरो।····।'

बुद्ध ने आत्म - निर्णय और आत्मावलम्बन की बुद्धिस्वातंत्र्य की शिक्षा जीवनभर देते रहे। ८० वर्ष की उमर में बुद्ध शरीर से

निर्बल हो गये थे। वह पुरानी गाड़ी-को बांध-बूंध कर चला रहे थे। लेकिन, अब भी वह आशा का सन्देश ही दूसरों को देते थे।

बुद्ध रमणीय स्थानों के बहुत प्रेमी थे। अनेक मनोहर भूखण्डों की मधुर स्मृति अब भी उनके हृदय में थी। एक दिन भोजनोपरान्त वह वेणुग्रामसे चापाल चैत्यमें विहार करने गये—चैत्य देवताओं के चौतरे को कहते थे, जिन पर उस समय मूर्ति नहीं होती थी। आम तौर से चैत्य किसी बड़े उद्यान के भीतर होता था। अपने पुराने विहार किये स्थानों का स्मरण करते हुये बुद्ध ने कहा—

'आनन्द, रमणीय है वैशाली। रमणीय है उदयन चैत्य। गौतमक चैत्य,० सप्त- आम्रक चैत्य, ०बहु-पुत्रक-चैत्य, ०सारन्दद-चैत्य,रमणीय है चापाल चैत्य। ''। रमणीय है आनन्द। कपिलवस्तु में न्यग्रोध-राम। राजगृह में गृद्धकूट।० चोर-प्रपात। ०वैभार (गिरि) को बगल में कालशिला। ०सीतवन में सर्प-शौंडिक पहाड। तपोदपाराम।० वेणुवनकलन्दक-निवाप ।० जीवकाम्रवन। ० मद्रकुक्षिमृग-दाव।'

बुद्ध अपने प्रिय गणराज्य की राजधानी वैशाली से विदाई लेने लगे। वह वेणुग्राम से महावन की कूटागारशाला में गये। यह वही स्थान था, जहां आज भी कोल्हुआ में अशोक-स्तम्भ खड़ा है। भिक्षुओं को बुला कर उपदेश देकर वैशाली में अन्तिम बार भिक्षाटन के लिये गये। नगर से बाहर निकल सारे शरीर से घूम कर (नागाव-लोकन से) एक बार वैशाली को देखकर उन्होंने कहा—'आनन्द, तथागत का यह अन्तिम वैशाली दर्शन होगा।' कितना करुण यह वाक्य है। उस समय रस का परिपाक थोड़े शब्दों में किया जाता था। हृदय की वीणा के तार को एक बार छू दिया जाता और वह कितनी ही देर तक झंकृत होती रहती।

वैशाली से बुद्ध अपने निर्वाण - स्थान कुसीनारा की ओर चले। बीच में भण्डग्राम, अम्बग्राम, जम्बूग्राम तथा भोगनगर का

कसबा मिला। आजकल यह स्थान कहाँ हैं, यह कहना मुश्किल है। वह जरूर वैशाली से कुसीनारा के रास्ते पर थे, और उन्हें मुजफ्फरपुर, चम्पारन, छपरा और देवरिया के जिलों में ही ढूंढना चाहिये। भोगनगर सम्भवत: गंडक के पूर्व था। वहाँ से वह पावा पहुँचे। पावा मल्लों के नौ गण राज्यों में से एक की राजधानी थी। यह कस्बा वर्तमान पडरौना के आसपास कहीं रहा होगा। पपौर गाँव अब भी वहाँ मौजूद है, जो पावापुर का बिगड़ा रूप है। पावा में सोनार चुंद के आमों के बगीचे में तथागत ठहरे। चुंद ने अगले दिन भोजन का निमंत्रण दिया। बुद्ध और भिक्षु-संघ के लिए सबसे अच्छा भोजन तैयार करने की चुन्द को चिन्ता हुई, उसने उस काल की सबसे बढ़िया 'डिश' शूकर-मार्दव को तैयार किया। शूकर-मार्दव 'न बहुत तरुण न बहुत जूने, एक वर्ष बड़े सूअर का बना मांस, वह मृदु भी और स्निग्ध भी होता था।' सूअर गांव का भी उस समय अभक्ष्य नहीं था। यह मार्दव बहुत संभव है, गाँव के ही सूकर का था। भोजन परोसा गया। चुन्द की श्रद्धा को देखकर बुद्ध उसे इनकार नहीं कर सकते थे, यद्यपि हाल में ही बीमारी से उठने के कारण वह उनके लिये गरिष्ठ भोजन था।

चीनी अनुवादित सूत्र में वैशाली से आम्रग्राम, जम्बूग्राम, हस्तिग्राम, वेणुग्राम, भोगनगर और पावा होते हुये कुसीनारा जाने का उल्लेख है। उसमें भी लिखा है, कि चुन्द सोनार ने तीन साल के सुअर का मार्दव (कीमा) और भात का भोजन कराया था।

पावा से बुद्ध चले। रास्ते में दुर्बलता के कारण उनको कई जगह बैठना पड़ा। उनका लक्ष्य कुसीनारा का उपवन था, जहाँ जोड़े साखुओं के बीच में उन्हें महाप्रयाण करना था। चुन्द के शूकर-मार्दव से पेट फिर खराब हो गया। कोई चुन्द पर इसके लिये दोष न लगाये, इसलिये अम्बवन में चौपेती संघाटी पर लेटे उन्होंने

आयुष्मान् आनन्द से कहते अपने इस अन्तिम भोजन को उतना ही श्रेष्ठ बतलाया, जितना कि सुजाता के खीर को, जिसे खाकर वह बुद्ध हुये थे—

"आनन्द, शायद कोई चुन्द कर्मारपुत्र को क्षुब्ध करे और कहे—'आवुस चुन्द, अलाभ है तुझे, तूने दुर्लाभ कमाया, जो कि तथागत तेरे पिंडपात को भोजन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुये।' आनन्द, चुन्द कर्मार-पुत्र की इस चिन्ता को दूर करना और कहना—'आवुस, लाभ है तुझे, तूने सुलाभ कमाया, जो कि तथागत तेरे पिंडपात को भोजन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुये। आवुस चुन्द, मैंने यह भगवान् के मुख से सुना, मुख से ग्रहण किया—वह दो पिंड-पात समान फल वाले हैं, दूसरे पिंडपात से बहुत ही महाफल-प्रद हैं। कौन से दो? (१) जिसे (भोजन कर बुद्ध हुये) और (२) जिस पिंडपात (भिक्षा) को भोजन कर तथागत दुःख-कारण-रहित निर्वाण को प्राप्त हुये।'

आगे हिरण्यवती नदी मिली। आज भी सोनानाला के रूप में वह कसिया के पास मौजूद है। उसके पार मल्लोंका शालोंका वन आ गया। वहीं दो जुड़वें शाखू वृक्षों के बीच में चारपाई बिछा दी गई। उत्तर की ओर सिर दक्षिण की ओर पैर करके लेटे दाहिनी करवट उन्होंने वह बात देखी, जिसे २५०० वर्ष बाद हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं; श्रद्धालु कुलपुत्रों के लिये ये चार स्थान दर्शनीय होंगे—(१) जन्मस्थान लुम्बिनी, (२) बुद्धत्वप्राप्ति स्थान बोधगया, (३) धर्मचक्र-प्रवर्तन स्थान (सारनाथ) और (४) निर्वाण-स्थान कुसीनारा।

बुद्ध वैशाख पूर्णिमा की सन्ध्या को यहाँ पहुँचे थे। अब आठ-नौ घंटे ही निर्वाण के लिये रह गये थे। इस समय को भी उन्होंने उपयोग किया। उन्होंने कहा, भिक्षुओं को बुद्ध की शरीर-पूजा का ख्याल

नहीं करना चाहिये। हमारा सौभाग्य है, जो कुसीनारा में चिता पर जलाने के बाद बुद्ध के शरीर की जो अस्थियाँ बच रही थीं, उनमें से कुछ अब भी हमारे पास तक पहुँची सारनाथ में रक्खी गई हैं। उन्होंने कहा, हमारे शरीर को जला देना। बुद्ध की यह बातें सुन आनन्द से नहीं रहा गया। वह कोठरी में जाकर खूंटी पकड़ कर रोने लगे। अनुपस्थित देखकर बुद्ध ने बुलवाया, और आने पर कहा—

'नहीं आनन्द, मत शोक करो, मत रोओ। मैंने तो आनन्द, पहिले ही कह दिया है—सभी प्रियों—मनापों से जुदाई होती है, सो वह आनन्द, कहां मिलने वाला है। जो कुछ जात-उत्पन्न-भूत संस्कृत है, सो नाश होनेवाला है। 'हाय, वह नाश न हो।'—यह सम्भव नहीं। आनन्द तूने दीर्घरात्र-चिरकाल तक—अत्यधिक मैत्रीपूर्ण कायिक-कर्म से मैत्रीपूर्ण वाचिक कर्म से, मैत्रीपूर्ण मानसिक कर्म से तथागत की सेवा की है, आनन्द, तू कृतपुण्य है।'

मल्लों के गणराज्यों में से एककी राजधानी कुसीनारा थी। निर्वाण होने से पहले बुद्ध ने आनन्द को उनके पास भेज कर कहलवाया—'वासिष्ठो, आज रात के पिछले पहर तथागत का परिनिर्वाण होगा। चलो वासिष्ठो, चलो वासिष्ठो, पीछे अफसोस मत करना, कि 'हमारे ग्राम में तथागत का परिनिर्वाण हुआ, लेकिन हम अन्तिम काल में तथागत का दर्शन न कर पाये।'

तथागत के दर्शन के लिये मल्ल, मल्ल-भार्यायें, मल्लपुत्र, मल्ल-बधुयें आईं। सभी प्रभावित थे, दुःखित थे। कोई बालों को बिखेरे रो रहा था, कोई बांह पकड़ कर क्रन्दन कर रहा था।

उस समय दिन-रात छ पहर का माना जाता था। तीसरे याम का मतलब था रात्रि के अन्तिम चार घंटे, वैशाख की रात छोटी होती है। पहले याम अर्थात् १० बजे रात तक मल्ल लोगों ने भगवान् का दर्शन और वन्दना कर ली।

कुसीनारा में सुभद्र साधु रहता था। उसे जब यह मालूम हुआ, तो सोचने लगा, कि इस समय से चूकना नहीं चाहिये। वह शालवन में आया और आनन्द से बुद्ध के दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। भगवान को तकलीफ होगी—कह कर आनन्द ने मना किया। उनके वार्तालाप की भनक बुद्ध के कानों तक पहुँची। उन्होंने कहा—
'नहीं आनन्द, मत सुभद्र को मना करो। सुभद्र को तथागत का दर्शन पाने दो। जो कुछ सुभद्र पूछेगा, वह परम-ज्ञान की चाह से ही पूछेगा, तकलीफ देने की चाह से नहीं। पूछने पर जो मैं उसे कहूँगा, उसे वह जल्दी जान लेगा।'

सुभद्र ने भगवान् के पास पहुँच कर अपनी शंकायें रक्खीं, बुद्ध ने उनका समाधान किया। सुभद्र बुद्ध के अन्तिम शिष्य थे।

बुद्ध ने आनन्द से कहा—आनन्द, शायद तुमको ऐसा हो—
(१) चले गये गुरु का यह उपदेश है, अब हमारे शास्ता नहीं हैं। आनन्द, इसे ऐसा मत देखना। मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किये हैं, विहित किये हैं, मेरे बाद वही तुम्हारा गुरु है। (२) आनन्द, जैसे आजकल भिक्षु एक दूसरे को 'आवुस' कह कर पुकारते हैं, मेरे बाद ऐसा कह कर न पुकारें। आनन्द स्थाविरतर नवकतर भिक्षु को नाम या गोत्र से, या 'आवुस' कह कर पुकारें। नवकतर भिक्षु स्थाविरतर को, 'भन्ते' या 'आयुष्मान्' कह कर पुकारें। (३) इच्छा होने पर संघ मेरे बाद छोटे-छोटे भिक्षु नियमों को छोड़ दे। (४) आनन्द, मेरे बाद छन्न भिक्षु को ब्रह्मदण्ड करना चाहिये।

'भन्ते, ब्रह्मदण्ड क्या है?'

'आनन्द, छन्न (दूसरे) भिक्षुओं को जो चाहे सो कहे, भिक्षुओं को उससे न बोलना चाहिये, न उपदेश-अनुशासन करना चाहिये।'

फिर भगवान् ने भिक्षुओं को आमंत्रित किया—

'भिक्षुओं, यदि बुद्ध, धर्म, संघ में किसी भिक्षु को कोई भी शंका हो, तो पूछ ले। भिक्षुओं, पीछे अफसोस मत करना—'शास्ता हमारे सम्मुख थे, किन्तु हम भगवान् के सामने कुछ न पूछ सके।'

बुद्ध का अंतिम वाक्य था—

संस्कार (कृत वस्तुयें) नाशवान् हैं, आलस न कर जीवन के लक्ष्य को सम्पादन करो।' चीनी पिटक के सूत्रका अनुवाद भी ऐसा ही है—'व्ययधर्माः संस्काराः, अप्रमादेन सम्पादयेथाः।'

अपने इस अन्तिम वाक्य में उन्होंने दो बातों पर जोर दिया। एक में उनका मुख्य दर्शन है 'सभी वस्तुयें परिवर्तनशील हैं,' अर्थात् क्षणिकवाद। दूसरे में अपने लक्ष्य की प्राप्ति में आलस न करने की सलाह है।

पूर्णमासी की रात्रि थी। चाँद सोलहों कला से उगा हुआ था। शाल के वृक्ष सफेद फूलों से फूले हुये थे। आज भी शाल के फूलने पर दूर तक उसकी सुगन्ध फैलती है। बड़ी संख्या में भिक्षु-भिक्षुणी उनके पास बैठे हुये थे। उनके सर्वप्रधान शिष्य सारिपुत्त और मोग्गलान पहले ही निर्वाण प्राप्त हो चुके। उनके बाद महाकात्यायन थे, जो कि उस समय शायद सुदूर अवन्ती (उज्जैन) देश में थे। उनके बाद महाकाश्यप का नम्बर था। वह भी उपस्थित नहीं थे।

रात के तीसरे (अन्तिम) पहर में बुद्ध ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

'भगवान् के परिनिर्वाण हो जाने पर, जो अवीत-राग अ-विरागी भिक्षु थे, उनमें कोई बाँह पकड़ कर क्रन्दन करते, कटे पेड़ के सदृश गिरते, धरती पर लोटते थे—'भगवान् बहुत जल्दी परिनिर्वृत हो गये।' किन्तु जो वीत-राग भिक्षु थे, वह स्मृति-संप्रजन्य के साथ उसे सहन करते थे—'(सभी) संस्कार अनित्य हैं, वह कहां मिलेगा?'

तब आयुष्मान् अनुरुद्ध ने भिक्षुओं से कहा—

(४)

बुद्ध का व्यक्तित्व और विचार

१. व्यक्तित्व

किसी ऐतिहासिक महापुरुष की तुलना पौराणिक देवी देवताओं से करना ठीक नहीं है, पर यदि पौराणिक शब्दावली को इस्तेमाल करें, तो हम कह सकते हैं, कि बुद्ध सोलह कला पूर्ण पुरुष थे। हमारे देश को भी बड़े-बड़े पुरुषों को पैदा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है; पर, बुद्ध को जैसा पूर्ण देखा जाता है, वैसे नहीं मिलेंगे। महा पुरुषों में कितने ही मस्तिष्क में बहुत बड़े मिलेंगे, जिनकी प्रतिभा दूर तक वेधने वाली, दूर तक सोचने वाली है। पर हृदय के माधुर्य में वह उतने बड़े नहीं निकलेंगे। दूसरे हृदय के महाधनी होते हैं, पर मस्तिष्क में अपूर्ण जचेंगे। बुद्ध हृदय और मस्तिष्क दोनों में महान् थे। उनके व्यक्तित्व को ढाई हजार वर्षों की परम्पराओं, अपनों और परायों की श्रद्धा के फूलों ने इतना ढांक दिया है, कि वह जंगल में बिल्कुल छिप से गये मालूम होते हैं। पर, तब भी जरा सा ही ध्यान देने पर वह गर्द लगे चमकते कोहनूर की तरह जगमग-जगमग करने लगते हैं। पश्चिमी विद्वानों ने जब पहले पहल बुद्ध के बारे में सुना और जाना, तो कितनों हीने उन्हें हिन्दुओं की अवतार-कल्पना की तरह एक कल्पना समझा। पर, अन्त में ठोस ऐतिहासिक तथ्यों के सामने सिर झुकाना पड़ा,

और बुद्ध की ऐतिहासिकता माननी पड़ी। जब बुद्ध के निर्वाण के थोड़े ही समय बाद पिपरहवा में और दो-ढाई शताब्दियों बाद और जगहों में पुराने अक्षरों में उत्कीर्ण डिबियों में रक्खी उनकी पवित्र अस्थियां (धातु) हमारे सामने आई, तो मानो बुद्ध खुद ढाई हजार वर्ष बाद हमारे सामने आकर बोलने लगे—मैं हूँ, जिसे श्रमण गौतम कहते थे, जो उत्तरी भारत के (जंगल) संथाल परगना जिला से थानेश्वर तक और विध्याचल से हिमालय की तराई तक ४५ वर्षों तक निरन्तर घूमता रहा।

मैं कह चुका हूँ, परम्परा के अनुसार बुद्ध का निर्वाण ईसा-पूर्व ५४४ में और जन्म उससे ८० वर्ष पहले ईसा-पूर्व ६२४ में हुआ था। इससे १९५६ ई० में भगवान के निर्वाण हुये २५०० वर्ष होते हैं। ऐतिहासिक अनुसन्धानों से इस गणना में ६० वर्ष अधिक मालूम होते हैं—निर्वाण ईसा-पूर्व ४८३-८४ में हुआ था। ऐसा मानने पर दूसरे ऐतिहासिक उल्लेखों की संगति लग जाती है। परम्परा के अनुसार ईसा-पूर्व ६२४ में सिद्धार्थ लुम्बिनि (नेपाल की तराई) में जन्मे। २९ वर्ष की आयु (ईसा-पूर्व ५९५ ऐतिहासिक तौरसे ई०-पू० ५३५) में उन्होंने घर छोड़ा। छ वर्ष की उग्र तपस्या के बाद उसे व्यर्थ समझ ३५ वर्ष की आयु में (ईसा-पूर्व ५८९-५२९ में) वह स्वयं प्रयत्न करके उस तत्वज्ञान को पाने में सफल हुये, जो बुद्ध के दर्शन, योग और आचारशास्त्र की आधार-शिला है; जिसे मध्य-मार्ग, चार आर्यसत्य अनित्यवाद क्षणिकता का सिद्धान्त या प्रतीत्यसमुत्पाद् कहते हैं। ३५ वर्ष की आयु से ८० वर्ष की आयु तक ४५ वर्षों (ऐतिहासिक तौरसे ई०-पू० ५२८-४८३ और परम्परा के अनुसार ई०-पू० ५८४ ५८९-५४५ तक) वह आदि कल्याण, मध्य-कल्याण, पर्यवसान-कल्याण—सर्वतोभद्र—धर्म का रास्ता[1] बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय बतलाते रहे।

बुद्ध के जीवन में ही उनकी ख्याति अपने विचरण-क्षेत्र से बाहर पहुँच गयी थी। सूनापरान्त गुजरात के समुद्र तट का सेठ आकर

उनका शिष्य हुआ, तक्षशिला के राजा कप्फिफण उनके चरणों में आया। अपने समय के बड़े से बड़े मेधावी और आदर्शवादी पुरुष बुद्ध के चरणों में नतमस्तक हुये। सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप के रूप में उस समय के सबसे प्रतापी अंग-मगध देश के मूर्धन्य ब्राह्मण पण्डितों को बुद्ध के उपदेशों से शांति मिली। (उज्जैन) के राजा चंडप्रद्योत के पुरोहित महाकात्यायन ने बुद्ध के चरणों में सिर नवा कर सिद्ध किया, कि जम्बू द्वीप में एक अद्वितीय सूर्य उगा है। गृहस्थ ब्राह्मण पंडितों में भी बुद्ध के भक्तों की संख्या कम नहीं थी। प्रतिभा और व्यक्तित्व दोनों में वह इतने आकर्षक थे, कि उनके सामने आने पर लोग भक्त हो जाते थे। तपस्या के समय छ साल साथ रह बुद्ध के तपस्या छोड़ने पर आचार-भ्रष्ट समझ कौंडिन्य अश्वजित्, आदि पांच भिक्षु उन्हें छोड़ कर वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव (सारनाथ) में चले गये। बुद्ध ने इन निराश पांचों व्यक्तियों को अपनी नई खोज के फलसे पहिले लाभान्वित करना चाहा। पांचों ने भगवान् को दूरसे आते देखकर आपस में पक्का किया—साथियों, यह साधना-भ्रष्ट जोड़ने में परायण श्रमण गौतम आ रहा है। इसे न अभिवादन करना चाहिये, न प्रत्युत्थान करना चाहिये। लेकिन, भगवान के पास आ जाने पर एक ने बढ़कर भगवान का पात्र-चीवर लिया, एक ने आसन बिछाया, एक ने पैर धोने के लिये जल-पीढ़ा लाके रक्खा।

वह सचमुच इतने मोहक थे, कि कितने ही समझते, श्रमण गौतम के पास 'आवतनी माया'। मत फेरने वाला जादू है। नालन्दा के सेठ उपालि को इस आवर्तनी मायाके फेर में पड़ने पर किसीने ताना मारा, तो वह कह उठा—'सुन्दर है आवर्तनी माया, कल्याणी है आवर्तनी माया, यदि मेरे प्रिय जातिभाई भी इस आवर्तनी माया के फेर में पड़ जायें, तो उनका दीर्घ काल तक हितसुख होगा।' हृदय और मस्तिष्क को वह बहुत प्रभावित करते थे।

बुद्ध का दर्शन है प्रतीत्यसमुत्पाद—अन्तः बाह्य जगत् की सभी स्थूल-सूक्ष्म वस्तुयें बिना अपवाद के नाशमान, अनित्य, क्षण-क्षण जड़-मूल से परिवर्तनशील हैं। इसका समझाना आसान नहीं था। पर, बुद्ध के कहने का ढंग ऐसा सरल था, हर गाँठ को खोलने के लिये ऐसी उपमायें देते, कि थोड़ी बुद्धि रखनेवाला आदमी भी उसे अच्छी तरह समझ जाता। अधिक मेधावी तो दो पंक्तियों में ही बुद्ध के गहन दर्शन को समझ कर गद्गद् हो जाते। भिक्षु अश्व-जित्की शान्त चेष्टाओं को देखकर परिव्राजक सारिपुत्र उनकी तरफ आकृष्ट हुये। उन्होंने अश्वजित् के विचारों को जानने की इच्छा प्रकट की। अश्वजित् ने कहा—'मैं इस धर्म में नया हूँ, विस्तार से नहीं बतला सकता।

'अच्छा, थोड़ा या बहुत जो भी हो बतलाओ।' अश्वजित् ने वह गाथा कही, जो भारत और बाहर करोड़ों बार पत्थर धातु, कागज मिट्टी पर लिखी गई। हर बौद्ध देश में लाखों की संख्या में इस गाथा वाली मिट्टी की मुद्रायें मिली हैं। गाथा है—'

'ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेसं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो, एवंवादी महासमणो।'

'जो पदार्थ हैं, सो हेतु से उत्पन्न हैं। उनके हेतु को और उनके निरोध को भी तथागत ने कहा, यह बतलाने वाले महाश्रमण हैं।'

बुद्ध ने सभी धर्मों-प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष वस्तुओं—को सकारण, उत्पत्ति-मान् बतलाया। इस एक दृष्टि (दर्शन) ने बुद्ध के अनित्यवाद, अनात्मवाद को मेधावी सारिपुत्र के सामने खोल दिया।

बुद्ध और बौद्ध भारत के दर्शन-क्षेत्र में सदा अग्रणी रहे। बौद्ध-विरोधी उन्हें प्रमाणपटु कहते थे। नालन्दा के महान् दार्शनिक, अपने ही समय नहीं, बल्कि सभी समय के अद्वितीय भारतीय दार्शनिक

धर्मकीर्ति के बारे में उनके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी कहा करते थे—'दुराबाध इव धर्मकीर्तेः पंथाः, तत् अत्र अवहितेन भाव्यं।' (धर्मकीतिका पंथ दुराबाध है, सो यहाँ सावधानी से रहना।)

बुद्धके मधुर मोहक व्यक्तित्व को बतलाने वाली अनेक घटनायें हैं।

१. वह करुणामय थे। वह और उनके शिष्यों ने करुणापर सबसे अधिक जोर दिया। ८४ सिद्धों के आदिगुरु सरहपाद करुणा और शून्यता समाधि, इन्हीं दोनों को सर्वोपरि और एक दूसरे के पूरक तत्त्व मानते हैं।

भगवान् श्रावस्ती के जेतवन (गोंडा जिले के सहेटमहेट) में उस समय थे। मठ में घूमते वह एक कोठरी के पास गये। देखा, एक भिक्षु पेट की बीमारी के कारण अपने पेशाब-पाखाने में पड़ा है। अपने सहचर आनन्द से कहा—'आनन्द पानी लाओ, इस भिक्षु को नहलायेंगे।' आनन्द पानी लाये, भगवान् ने भिक्षु को नहलाया-धुलाया। अपने सिर से और आनन्द ने पैर से पकड़ कर रोगी को चारपाई पर लिटाया। उसी समय उन्होंने भिक्षुओं से कहा—'तुम्हारी माता नहीं, पिता नहीं, जो कि तुम्हारी सेवा करेंगे। यदि तुम एक दूसरे की सेवा नहीं करोगे, तो कौन सेवा करेगा? जो रोगी की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है।'

रोगी की सेवा के साथ कितनी ही दवाइयों के उपयोग को बात भी बुद्ध ने बतलाई। इसी कारण उन्हें भैषज्य-गुरु (दवाओं के गुरु) कहा जाने लगा। भैषज्य-गुरु से जीवन में जितने रोगियों ने लाभ उठाया, उनसे हजारों गुना अधिक, उनके निर्वाण के बाद लाभान्वित हुये। अशोक ने पशु-चिकित्सा, मनुष्य-चिकित्सा की व्यवस्था अपने देश में ही नहीं, सुदूर ग्रीक राज्यों में भी की। कम्बुज, चीन आदि देशों में हजारों धर्मार्थ अस्पताल और आतुरालय खुले।

बुद्ध दुःख से टूक-टूक होते हृदयों का तमाशा नहीं देखते थे।

वह उसे स्वयं अनुभव करने से हटाने की कोशिश करते थे। दुखियारी कृशा गौतमी का उदाहरण सामने है। वह अपने बारे में कहती है—

'निर्धन समझ कर सभी मेरा निरस्कार करते थे।

जब मैंने पुत्र जना, तो सबकी प्रिय हो गई।

बच्चा सुन्दर, कोमलांग सुख में पला।

वह प्राण समान मुझे प्रिय था, फिर वह यमलोक को सिधारा।

सो मैं कृश दीनबदना आँसू बहाती।

मरे शिशु को लेकर विलाप करती घूम रही थी।

किसी ने कहा 'उत्तम वैद्य बुद्ध के पास जा।'

मैंने जाकर उनसे कहा—पुत्रसंजीवन औषध मुझे दो।

उन्होंने कहा—'जिस घर में कोई मरा नहीं, वहाँ से पीली सरसों ला।'

मैंने श्रावस्ती में घूम कर ढूंढ़ा, वैसा घर नहीं पाया।

कहाँ से पीली सरसों लाती? तब मुझे होश आया।

अर्धविक्षिप्त कृशा गौतमी ने जान लिया कि मृत्यु से कोई घर बचा नहीं है। अकेले मेरे लड़के को मृत्यु ने नहीं छीना। कृशा का पागलपन जाता रहा, उसका विदीर्ण होता हृदय स्वस्थ हो गया।

दर्शन में वज्र से दृढ़ बुद्ध, सहानुभूति और संवेदना में नवनीत की तरह पिघल जाते थे। सारिपुत्र उनके योग्यतम और सबसे प्रिय शिष्य थे। मोग्गलान उनके उसी तरह के दूसरे शिष्य थे। दोनों मानों जुड़वां भाई थे। दोनों का देहान्त हो गया। सारिपुत्र का अपने जन्म-ग्राम नालन्दा में और मोग्गलान का राजगृह में। इस महान् क्षति से सभी प्रभावित थे। पाटलिपुत्र (पटना) के सामने गंगा पार उलकाचेल की रेत में भिक्षुओं को खेद से चुपचाप देख भगवान् ने कहा—

'भिक्षुओं, मुझे यह परिषद् सूनी सी जान पड़ती है। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के निर्वाण न होते समय यह परिषद् मुझे असूनी मालूम होती थी। जिस दिशा में सारिपुत्र मौद्गल्यायन विचरते थे, वह निश्चिन्त हो जाती थी। जैसे महावृक्ष के खड़े रहते और उसके महास्कन्ध (बड़ी शाखायें) टूट जायें, उसी तरह तथागत के लिये सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की मृत्यु है।'

इन वाक्यों में बुद्ध का दर्द भरा दिल बोल रहा है। सौ वर्ष के बाद इन दोनों महापुरुषों की अस्थियों को हम लन्दन से अभी लौटा पाये हैं।

एक और घटना। वैशाख की पूर्णिमा है। कुसीनारा (वर्तमान कसिया) में दो शाल के वृक्षों के बीच लेटे बुद्ध निर्वाण की प्रतीक्षा कर रहे हैं। कुछ ही घंटा और रह गये हैं, फिर वह भुवन-मोहन व्यक्तित्व सदा के लिये अस्त हो जायेगा। आनन्द बीसियों वर्ष छाया की तरह उनके साथ-साथ घूमते रहे। इस अन्तिम वियोग को सहन करने के लिये उनमें शक्ति नहीं थी। वह कोठरी में जाकर खूंटी पकड़ कर रोने लगे। भगवान् ने पूछा—'आनन्द कहाँ है?'

'कोठरी में जाकर रो रहे हैं।'

बुद्ध ने बुला कर आनन्द से कहा—'नहीं आनन्द' मत शोक करो, मत रोओ। मैंने तो पहले ही कह दिया है, सभी प्रियों से जुदाई अवश्य होती है। जो जन्मा है, जो बना है, वह नाश होनेवाला है। 'हाय यह नाश न हो' यह चाहना ठीक नहीं।'

निर्वाण की अन्तिम घड़ियों की ही एक और घटना। बूढ़े सुभद्र को मालूम हुआ। उसने विचारा 'बुद्ध कदाचित् और कभी ही जन-मते हैं।' उसने पास जाकर अपनी शंकाओं का समाधान करना चाहा। आनन्द ने कहा—'नहीं साथी सुभद्र, तथागत को तकलीफ मत दो। भगवान् थके हुये हैं।' तीन बार इनकार मिला। सुभद्र की

विनती तथागत के कानों में पहुँच गई। उन्होंने कहा—'नहीं आनन्द, सुभद्र को मत मना करो। सुभद्र को तथागत का दर्शन पाने दो। वह ज्ञान की कामना से ही पूछेगा, तकलीफ देने की इच्छा से नहीं।'

सुभद्र ने उस ८० वर्ष के तेजोमय वृद्ध शरीर को देखा, और उस मुख से जो सुना, उससे वह कृतकृत्य हो गया। सारनाथ में कौंडिन्य को बुद्ध का सबसे पहला और कुसिनारा में सुभद्र के अन्तिम शिष्य होने का सौभाग्य मिला।

वह समता के प्रचारक थे। ढाई हजार वर्ष पहले उन्होंने अपनी शक्तिशाली आवाज जात पाँत के खिलाफ उठाई। यदि उसका आधार सम्पत्ति न होता, तो इसमें शक नहीं, वह जड़-मूल से खतम हो गई होती। तो भी बुद्ध की वाणी ने जात-पाँत की कठोरता को इतना शिथिल कर दिया, कि पीछे राजाओं और ब्राह्मणों ने कुलीन प्रथा चलाके उसे पुनः प्रतिष्ठित करना चाहा।

अम्बपाली वैशाली की गणिका—अछूत नहीं, पर समाज में बहुत नीच थी। 'गणिका गीध अजामिल तारयौ' सन्तों ने पीछे गाया, पर गणिका को सबसे पहले तारने वाले बुद्ध थे। तथागत गण-राज्यों की माता वैशाली में पहुँचे। अम्बपाली दर्शन के लिये घोड़े के रथ पर बैठ कर वैशाली से निकली। अगले दिन के भोजन का निमन्त्रण दिया। भगवान् ने मौन रह कर स्वीकृति दी। वह खुशी से फूली न समाती, लौट रही थी। प्रतापी लिच्छवि भी भगवान् के दर्शन के लिये रथों पर बैठ उसी बाग की ओर जा रहे थे। अम्बपाली गणिका ने तरुण लिच्छवियों के धुरों से धुरा, चक्के से चक्का, जूये से जूआ टकरा दिया। लिच्छवियों ने आश्चर्य से पूछा—'री अम्बपाली, क्यों धुरों से धुरा टकराती है ?'

अम्बपाली ने कहा—'आर्यपुत्रो, मैंने कल के भोजन के लिये भगवान् को निमन्त्रित किया है।'

लिच्छवियों ने बहुत चाहा कि अम्बपाली उन्हें निमन्त्रित करने का अवसर दे, पर अम्बपाली ने कहा—'आर्यपुत्रों, यदि वैशाली जनपद भी दे दो, तो भी इस महान् भोज को मैं नहीं दूंगी।'

लिच्छवि बोल उठे—'अरे, अम्बिका ने हमें जीत लिया, अरे, अम्बिका ने हमें वंचित कर दिया।'

बुद्ध, लिच्छवियों को इस भूमि पर स्वर्ग के देवता सा मानते थे, क्योंकि वह जनतांत्रिकता और गणराज्य-प्रणाली के समर्थक थे। संघ के भीतर उन्होंने पूर्ण साम्यवाद लाना चाहा था। वैशाली उस समय का आदर्श गणराज्य था, इसलिए लिच्छवियों को देखकर वह भिक्षुओं से कहने लगे—देखो भिक्षुओ, लिच्छवियों को, देखो भिक्षुओ, लिच्छवियों को। लिच्छवियों की परिषद् को देव-परिषद् जानो।

इन भूतल के देवों ने बुद्ध को भोजन का निमन्त्रण दिया। उन्होंने कहा-मैंने अम्बपाली का स्वीकार कर लिया।

उन्हें सादगी पसन्द थी। उनके महान शिष्य काश्यप के शरीर पर नफीस कपड़े की संघाटी (दोहरी चादर) थी। बैठने के लिये उन्होंने उसे चौपेत कर रख दिया। भगवान ने कहा—काश्यप तुम्हारी संघाटी मुलायम है।

काश्यप ने समझा भगवान् को यह संघाटी पसन्द है। उसे देना चाहा। भगवान् ने कहा—फिर तुम क्या पहनोगे?

'भन्ते, यदि आप का यह वस्त्र पाऊँ, तो पहनूंगा।'

बुद्ध ने कहा—क्या, इस जीर्ण गुदड़ी को तुम धारण कर सकते हो! फिर इसे जन्म भर के लिये गुदड़ीधारी (पाँसुकूलिक) ही पहन सकता है।

काश्यप ने हाँ कहा, बढ़िया चीवर देकर गुदड़ी को ले लिया और जन्म भर गुदड़ीधारी रहे। कहते हैं, बुद्ध के दिए उसी चीवर

को वह जन्म भर पहनते रहे, और अब भी गया जिले की एक पहाड़ी गुहा में उसे लिए इस प्रतीक्षा में बैठे हैं, कि भावी बुद्ध मैत्रेय आवें, तो उन्हें वह संघाटी दे अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो जायें।

शिष्टाचार—सोरों (सोरेय) और मथुरा के बीच वेरंजा एक कस्बा था। चतुर्मासा के लिए बुद्ध वहीं ठहरने वाले थे। उत्तरापथ (पंजाब) के घोड़े के पाँच सौ सौदागर भी वहाँ वर्षावास कर रहे थे। वेरंजा के एक धनी ब्राह्मण ने बुद्ध को वर्षावास करने के लिये निमंत्रण दिया। लेकिन वह भूल गया। दुर्भिक्ष का समय था। लोग दाने-दाने के मोहताज थे। उदार पंजाबी सौदागर पसर-पसर भर चावल देते। कूट कर बनाई पतली लेई में ही से भगवान् भी भोजन करते। वर्षा बीती, प्रस्थान करने का समय आया। वेरंजा का ब्राह्मण भूल गया था, लेकिन बुद्ध उससे पूछे बिना कैसे जाते? उन्होंने ब्राह्मण के घर पर जाकर कहा—ब्राह्मण, तुमने निमन्त्रित किया था, वर्षावास करके मिलने आये हैं। हम अब चारिका के लिये जाना चाहते हैं।'

तथागत शिष्टाचार का पालन आवश्यक समझते थे। भगवान् वेरंजा से सोरैय, संकास्य (संकिसा-वसन्तपुर), कान्यकुब्ज (कन्नौज) होते प्रयाग-प्रतिष्ठान की ओर चले गये।

उदार कितने थे? वैशाली का प्रधान-सेनापति सिंह पहले तीर्थंकर महावीर का अनुयायी था। फिर बुद्ध की आवर्तनी माया ने उसकी मति फेर दी। बुद्ध को ख्याल आया, शायद यह अब जैन साधुओं को भोजन देना पसन्द न करे, इसलिये कहा—'सिंह, तुम्हारा कुल दीर्घकाल से निगण्ठों (जैन साधुओं) के लिये प्याव की तरह रहा है। उनके आने पर पिण्डदान को मत रोकना।'

वह कितने निर्भय थे? खूनी डाकू अंगुलिमाल आदमियों को मार कर खुश होता था। मारे आदमी की एक अंगुली को गूंथ कर गले में डाल लेता था, जिसके कारण ही उसका नाम अंगुलिमाल पड़

गया। उसके मारे रास्ते रुक गये थे। लोग उधर पैर बढ़ाने का नाम नहीं लेते थे। बुद्ध का विश्वास था—मानव-हृदय स्वभावतः नरम होता है।' उधर जाते देख लोगों ने कहा—'श्रमण, इस रास्ते मत जाओ। इस मार्ग में अंगुलिमाल डाकू रहता है। वह मनुष्यों को मार कर अंगुलियों की माला पहनता है। बीस, तीस, चालीस, पचास आदमी इकट्ठे जाकर भी अंगुलिमाल के हाथ में पड़ जाते हैं।'

भगवान् ने प्राणों को दाव पर रक्खा। मार देगा, तो किसी बुरे काम के लिये नहीं मरूंगा। उन्हें अपनी आवर्तनी माया पर पूरा विश्वास था। डाकू अंगुलिमाल साधु की इस ढिठाई को देखकर अचरज में पड़ गया। तो भी अपने स्वभाव के अनुसार माला में एक अंगुली और बढ़ाने के लोभ को नहीं रोक सका। पर, यह पुरुष दूसरा ही था। मारने के लिये पीछे दौड़ते मानो वह हाथ में नहीं आ रहा था, वह मामूली चाल से चल रहे थे, लेकिन सारे वेग से दौड़ कर भी अंगुलिमाल पा नहीं रहा था। डाकू ने कहा—'खड़ा रह श्रमण।'

'खड़ा तो हूँ अंगुलिमाल।'

डाकू अन्त में परास्त हुआ। पालतू जन्तु की तरह बुद्ध के पीछे-पीछे वह जेतवन में गया। कोसलराज प्रसेनजित के पूछने पर भगवान् ने कहा—'महाराज, यह है अंगुलिमाल।

राजा भय से स्तब्ध हो गया, उसके रोयें खड़े हो गये। भगवान् ने कहा—'मत डरो, महाराज, इससे भय नहीं है।'

राजा ने भूतपूर्व डाकू से पूछा—

'क्या आर्य अंगुलिमाल हैं?'

'हां, महाराज।'

'आपके पिता किस गोत्र के और माता किस गोत्र की थीं?

'पिता गार्ग्य, माता मैत्रायणी।'

गार्ग्य मैत्रायणी-पुत्र की सेवा करना प्रसेनजित ने अपना अहोभाग्य समझा। लेकिन, आर्य अंगुलिमाल आरण्यक, चिथड़ेधारी मधुकरिया बाबा थे, उन्हें राजाकी कृपा की अवश्यकता नहीं थी।

बुद्ध ठठा कर हंसने वाले नहीं थे, पर जिन्दादिली का उनमें अभाव भी नहीं था। राजा प्रसेनजित् की रानियों में सोमा और सुकुला दो बहिनें भी थीं। भोजन परोसने के समय वह राजा के पास पहुँची। महाराज भगवान् के दर्शनार्थ जा रहे थे। दोन बहिनों ने कहा—'महाराज, हमारे भी वचन से भगवान् के चरणों में सिरसे वन्दना करना।'

सीधे-सादे राजा ने जाकर भगवान् से कहा—सोमा और सुकुला बहिनें भगवान् के चरणों में सिर से वन्दना करती हैं।

भगवान् ने विनोद करते कहा—'क्या महाराज, सोमा और सुकुला बहिनों को दूसरा दूत नहीं मिला। सुखिनी होवें सोमा और सुकुला बहिनें।'

'सत्यंब्रूयात् प्रियंब्रूयात्। न ब्रूयात् सत्यमप्रियं' (सच बोले, लेकिन प्रिय बोले, अप्रिय सत्त्य को न बोले)। यदि सभी लोग अप्रिय सत्त्य बोलने से इनकार कर दें, तो भूलों को रास्ता नहीं मिल सकता। बुद्ध अवश्यकता पड़ने पर अप्रिय सत्त्य को बोले बिना नहीं रहते थे। ऐसे समय वह आदमी को मोघ पुरुष (निकम्मा आदमी) कह कर सम्बोधित करते।

अप्रिय सत्त्य को बोलने का एक उदाहरण ब्राह्मण तरुण अम्बष्ठ के साथ उनका संवाद भगवान् कोसल देश में विचरते इच्छानंगल नामक ब्राह्मणों के एक बड़े गांव में पहुँचे। यह ग्राम कोसलराज की ओर से महाविद्वान् ब्राह्मण पौष्करसातिको अग्रहार-वृत्ति के तौर पर मिला था। बुद्ध के आगमन को सुनकर ब्राह्मण ने अपने सर्वश्रेष्ठ छात्र अम्बष्ठ को बुद्ध के पास जानने के

लिये भेजा। अम्बष्ठ के रोम-रोम में ब्राह्मणों का अभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ था। वह घुटे सिर वाले मुंडकों को बड़ी तुच्छ निगाह से देखता था। शाक्यों के साथ उसे कटु अनुभव हुआ था, जिसके कारण जला-भुना था। बुद्ध के पास जाकर जरा भी शिष्टाचार दिखाये बिना टहलते हुये बुद्ध के पास बैठ कर बातें करने लगा। शिष्टाचार का इस तरह उल्लंघन देखकर बुद्ध ने पूछा—

'अम्बष्ठ, क्या वृद्ध आचार्य ब्राह्मणों के साथ ऐसे ही बातचीत की जाती है?'

अम्बष्ठ बोला—'नहीं, पर मुंडकों, श्रमणों (साधुओं), इभ्यों (शूद्रों), कालों, ब्रह्मा के पैर की सन्तानों के साथ ऐसे ही बातचीत की जाती है, जैसे कि आपके साथ।'

बुद्ध ने कहा—'अम्बष्ठ, तूने गुरु के पास वास नहीं किया है, बिना वास किये ही गुरुकुल-वास का अभिमानी है।'

अम्बष्ठ को यह बात लग गई। वह खुनसाते हुये भगवान् को ताना देते बोला—'हे गौतम, शाक्य जाति चण्ड है। शाक्य जाति क्षुद्र है। शाक्य जाति बकवादी है। इभ्य (-नीच) होने से शाक्य ब्राह्मणों का सत्कार नहीं करते। यह अनुचित है, जो इभ्य शाक्य ब्राह्मणों का सम्मान नहीं करते।'

भगवान् ने पूछा—'अम्बष्ठ, शाक्यों ने तेरा क्या बिगाड़ा?

अम्बष्ठ ने जवाब दिया—'हे गौतम, एक समय मैं आचार्य ब्राह्मण पौष्करसाति के किसी काम से कपिलवस्तु गया। संस्थागार (संसद्-भवन) में बहुत से शाक्य और शाक्य-कुमार ऊंचे स्थानों पर बैठे थे। वह मुझ पर ही मानो हंसते एक दूसरे के साथ परिहास कर रहे थे, किसी ने मुझे आसन पर बैठने को नहीं कहा। सो यह अनुचित है, जो इभ्य शाक्य ब्राह्मणों का सन्मान नहीं करते।'

बुद्ध ने कहा—'अम्बष्ठ, गौरैया चिड़िया भी अपने घोंसले पर स्वच्छन्द आलाप करती है। कपिलवस्तु तो शाक्यों का अपना है। अम्बष्ठ, इस थोड़ी सी बातपर तुम्हें अमर्ष नहीं करना चाहिये।'

अम्बष्ठ ने फिर भी मुंह-फट होकर वही बात दोहराई। बुद्ध ने पूछा—'अम्बष्ठ, तुम्हारा क्या गोत्र है ?

'मैं कृष्णायन हूं।'

बुद्ध ने कहा—'अम्बष्ठ, नाम-गोत्र के अनुसार शाक्य तुम्हारे आर्यपुत्र होते हैं, और तुम शाक्यों के दासी-पुत्र।' बुद्ध ने पुरानी परम्परा सुनाई, जिसमें बतलाया गया था, कि इक्ष्वाकुने अपनी प्यारी रानी की बात में पड़के अपने चार बड़े लड़कों को वनबास दे दिया। वही हिमालय के पास एक शाल (साखू) के वन में जा बसे। उनकी ही सन्तान शाक्य हुये। इक्ष्वाकु राजा की दिशा नाम की एक दासी थी, जिससे एक लड़का पैदा हुआ, जिसका नाम कृष्ण पड़ा। इनकी ही सन्तान कृष्णायन ब्राह्मण हैं। अम्बष्ठ इस परम्परा को जानता था, इनकार कैसे कर सकता ? अम्बष्ठ के साथ भी आये छात्र हल्ला मचाने लगे—'अम्बष्ठ दासी-पुत्र है।' बुद्ध ने समझाया, 'छात्रो, अम्बष्ठ को दासी-पुत्र कह कर मत लजवाओ। वह कृष्ण महान् ऋषि थे। उनकी विद्या और तेज के सामने झुक कर इक्ष्वाकु को अपनी अति सुन्दरी क्षुद्ररूपी कन्या देनी पड़ी।

बुद्ध अप्रिय सत्य भी बोलते थे, किन्तु किसी को दुःख पहुँचाने के लिये नहीं।

बुद्ध शान्तिवादी, शान्ति-आचारी थे। शाक्य बुद्ध के अपने कुल के थे और कोलियों में उनका ननिहाल था। दोनों के बीच रोहिणी नदी बहती थी—आज भी नेपाल की तराई और गोरखपुर में बहने वाली इस नदी का वही नाम है। दोनों गण-राज्य रोहिणी के पानी से सिंचाई करते थे। जेठ महीने में खेती को सूखते देख दोनों नगरों के

कमकर इकट्ठा हुये। नगर वालों ने कहा—'इस पानी को दोनों ओर ले जाने पर न तुम्हारा ही पूरा पड़ेगा, न हमारा ही। हमारी खेती एक पानी से ही पूरी हो जायगी, इसे हमें लेने दो।' कपिलवस्तु वालों ने भी वही बात की। 'हम नहीं जाने देंगे, हम नहीं जाने देंगे,' कहते-कहते झगड़े ने घोर रूप ले लिया। दोनों युद्ध के लिए निकले। बुद्धने सुना, तो वह दोनों सेनाओं के बीच में जाकर बोले—किस बात के लिये कलह है, महाराजो ?

मालूम हुआ पानी का झगड़ा है। बुद्ध ने पूछा—'महाराजो, पानी का क्या मोल है ?

'कुछ नहीं !'

'क्षत्रियों का क्या मोल है ?'

'भन्ते, अनमोल।'

भगवान् ने कहा—मुफ्त पानी के लिये अनमोल क्षत्रियों का नाश क्यों करते हो ? दोनो ओर की तलवारें म्यान में चली गईं, शान्ति स्थापित हो गई।

प्रसेनजित् का पुत्र और युवराज विदूडभ शाक्यों का नाती था। उसकी माँ शुद्ध शाक्यानी नहीं दासी-पुत्री थी। किसी ने दासी-पुत्र कह कर ताना मारा। युवराज को पता लगा, मेरे पिता के साथ छल करके शाक्यों ने अपनी कन्या न देकर दासी-पुत्री को दिया। उसका खून खौल उठा। उसने निश्चय किया, अभिमानी शाक्यों का उच्छेद करके रहूँगा। पिता के मरने पर विदूडभ गद्दी पर बैठा। एक दिन वह अपनी सेना लेकर शाक्यों को नष्ट करने के लिये चल पड़ा। बुद्ध को मालूम हुआ, तो वह शाक्य और कोसल की सीमा पर पहुँचे। गर्मी का समय था, धूप तेज पड़ रही थी। सीमा पर कोसल देश की ओर एक घनी छाया वाला बरगद का पेड़ था और शाक्यों की ओर एक कबरी छाया वाला वृक्ष। भगवान् कबरी छाया वाले वृक्ष के नीचे

जाकर बैठे, जो धूप को रोक नहीं सकता था। विदूडभ पास जा बन्दना करके बोला—

'भन्ते, ऐसी गर्मी के समय इस कबरी छाया वाले वृक्ष के नीचे क्यों बैठे हैं? इस घनी छाया वाले वरगद के नीचे बैठे।'

भगवान् ने कहा—'ठीक है महाराज, बन्धुओं की छाया ठण्डी होती है। विदूडभ ने कहने का अर्थ समझ लिया, और बुद्ध के बंधुओं को मारने से उस वक्त बाज आया।'

बुद्ध स्वतन्त्र चिन्तक थे, चाहते थे, दूसरे भी भेड़ न बनें, और स्वयं अपने रास्ते का निश्चय करें। इसी कारण बौद्ध-दर्शन ने पुस्तकों और आप्त वाक्यों को प्रमाण नहीं माना। बौद्ध केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। अनुमान को भी उतने ही अंश तक, जितना कि वह प्रत्यक्ष पर अवलम्बित है। कोशल देश में एक बीहड़ जंगल के छोर पर केसपुत्त बसा हुआ था। सार्थ (कारवाँ)-पथ वहाँ से जाता था। बड़े-बड़े व्यापारी अपनी सैकड़ों लदी गाड़ियों, बैलों को लेकर उधर जाते थे। सन्त भी वहाँ पहुँचते थे। महात्माओं का उपदेश एक दूसरे के विरुद्ध भी होता था। सभी अपनी मनवाना चाहते थे। दुबिधा में थे—कौन इसमें सच कहता है, कौन झूठ।

घूमते-घामते बुद्ध भी केसपुत्त में पहुँचे। कालामों ने अपने सन्देह को उनके सामने प्रकट किया। बुद्ध ने कहा—कालामों, तुम्हारी दुविधा ठीक है। कालामों, तुम किसी बात को इस लिए न मानों, कि वह श्रुति में है, परम्परा से आई है, माननीय शास्त्रों के अनुकूल है, बोलने वाला सुन्दर आकार-प्रकार का है, वह हमारी चिरविचारित और चिरअभ्यस्त है, हमारे बड़े गुरु ने ऐसा कहा है। कालामों, जब तुम अपने ही अनुभव करो, कि यह बात ग्रहण करने पर अहित और दुःख के लिये नहीं होगी, तो उसे मानों।

बुद्ध प्रकृति के प्रेमी थे। शहरों में भी वह बाहर किसी बगीचे में ठहरते, यदि वैशाली की तरह पास में महावन होता, तो वहां रहते। सभी वस्तुओं को अनित्य कहने से उनका मतलब यह नहीं था, कि उनका कोई महत्व नहीं। वह अनित्य के द्वारा वास्तविकता को बतलाते थे। सौंदर्य तो वस्तुतः उसी चीज में होता है, जो बराबर नई होती रहती है। निर्वाण के कुछ ही महीनों पहले वैशाली के चापाल-चैत्य में थे। उद्यान की शोभा ने उन्हें आकृष्ट किया, और वह सुन्दर स्थानों की मधुर स्मृतियों को ताजा करके कहने लगे—

'रमणीय है, आनन्द वैशाली। रमणीय हैं उदयन-चैत्य, रमणीय है गोतमक-चैत्य, रमणीय है सप्ताम्रक-चैत्य। रमणीय है आनन्द, (राजगृह में) गृध्रकूट, रमणीय है (कपिल-वस्तु में) न्यग्रोधाराम, रमणीय है (राजगृह में) चोर प्रपात, रमणीय है वैभारगिरिकी बगल में काल-शिला, रमणीय है सीतवन में सर्पशौण्डिक पहाड़, रमणीय है तपोदाराम, रमणीय है वेणुवन कलंदक-निवाप, रमणीय है जीवकाम्रवन, रमणीय है मद्रकुक्षि मृगदाव।

बुद्ध हर एक बात को सामाजिक दृष्टि से देखते थे। जब किसी भिक्षु को कर्तव्य की अवहेलना करते देखते, तो कहते 'मोघं स रट्ठ-पिण्डं भुंजति' (वह व्यर्थ ही राष्ट्र के पिण्ड को खाता है)। किसी भी व्यवहार को वह वर्तमान और भविष्य की जनता के हिताहित की दृष्टि से देखते थे। सुंसमार गिरि (चुनार में) वत्सराज उदयन का युवराज बोधिकुमार रहता था। उसने भगवान् को भोजन के लिये निमंत्रित किया और नये बनवाये महल में नये थानों के पांवड़े बिछवाये। भगवान् पांवड़े के पास आकर ठमक गये। कुमार ने कहा—'भगवान्, थानों पर चलें, यह मेरे चिरकाल के हितसुख के लिये होगा।' भगवान् वैसे ही खड़े रहे। इस पर आनन्द ने कहा—'राजकुमार, थानों को समेट लें। भगवान् पांवड़े पर नहीं चढ़ेंगे। तथागत आनेवाली जनता का याल कर रहे हैं।'

भगवान नहीं चाहते थे, कि लोग अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन करके ऐसे रवाज कायम कर दें, जिसके फेर में पड़ कर दूसरे लोगों को कष्ट हो।

जन-कल्याण की इच्छा का एक और उदाहरण। उनके उपदेशों को लोग अपनी अपनी भाषा में दोहराते थे। कोसल वाले कोसली (पालि) में, मगधवाले मागधी, अवन्तीवाले अवन्ती (मालवी), कुरुवाले कौरवी में। इसके कारण भाषा की एकता नहीं रहती थी। उस समय यमेड और यमेडकुल भाषा के दो सुन्दर पंडित ब्राह्मण भिक्षु थे। उन्होंने इस अनेकता को हटाने के ख्याल से बुद्ध से कहा—

'भन्ते, इस समय नाना नाम-गोत्र-कुल-जाति के भिक्षु अपनी भाषा में बुद्ध-वचन को कहते, दूषित करते हैं। अच्छा हो भन्ते, हम बुद्ध-वचन को छन्द में कर दें।'

भगवान् ने उन्हें फटकार कर भिक्षुओं से कहा—'भिक्षुओं, बुद्ध-वचन को छन्द में नहीं करना चाहिये। लोग अपनी भाषा में बुद्ध-वचन को सीखें।'

वह जानते थे, कि छन्द (वेदों और ब्राह्मणों की भाषा) में कर देने पर बुद्ध-वचन को मुट्ठी भर लोग ही समझ सकेंगे। अपनी-अपनी भाषा में पढ़ने का यह फल हुआ, कि जिन देशों में भी बौद्ध-धर्म गया, वहां बुद्ध-वचनों को बड़ी तत्परता से अनुवादित किया गया।

बुद्ध बहुत अति भोग वाले जीवन के खिलाफ थे। वे शरीर को सुखाना भी बेवकूफी समझते थे। कर्मकांड, भक्ति से उनका ज्यादा झुकावा ज्ञान और बुद्धि की ओर था। इससे कितने ही विद्वान्, श्रेष्ठि (=सेठ) और राजा बुद्ध के शिष्य बने। उस समय के छोटे-छोटे राज्य कैसे अपराजित रह सकते हैं, इसके बारे में बुद्ध ने सात बातें बताईं—

(१) हमेशा जमा होकर सामूहिक तौर से फैसला करना; (२) फैसले के मुताबिक काम करना; (३) कानून को मान कर चलना; (४) बूढ़ों की इज्जत करना ; (५) स्त्रियों पर जुल्म न करना; (६) जातीय धर्म का पालन करना; (७) धर्माचार्यों का सत्कार करना।

बुद्ध का दर्शन क्षणिकवादी है, किसी भी वस्तु को वह एक क्षण से अधिक ठहरनेवाली नहीं मानता। लेकिन बुद्ध ने इस बात को समाज की आर्थिक व्यवस्था पर लागू नहीं करना चाहा। धनवान शासक-शोषक समाज के साथ इस प्रकार समझौता कर लेने पर बुद्ध जैसे प्रतिभाशाली दार्शनिक का ऊपर के तबके में सम्मान बढ़ना लाजिमी था। कुटदंत, सोणदंड जैसे धनी ब्राह्मण पुरोहित उनके शिष्य बने। राजा लोग बुद्ध की आवभगत के लिए तैयार रहते थे। उस वक्त के धनकुबेर व्यापारीवर्ग तो बुद्ध के लिए हमेशा अपनी थैलियां खोले रहता था। श्रावस्ती (अब सहेटमहेट, जिला गोंडा) के सेठ सुदत्त (अनाथपिंडक) ने सिक्के से ढांक कर एक भारी बाग (जेतवन) खरीद कर बुद्ध और उनके भिक्षुओं के रहने के लिए दिया। उसी शहर की सेठानी विशाखा ने भारी रकम खर्च करके पूर्वाराम नामक विहार बुद्ध के लिए बनवा दिया था।

दक्खिन और दक्खिन पच्छिम भारत के साथ व्यापार के महान केन्द्र कौशाम्बी (आज का कोसम, जिला इलाहाबाद) के तीन भारी सेठों ने बुद्ध के लिए मठ बनवाने में होड़-सी लगादी थी। बुद्ध के धर्म को फैलाने में राजाओं से भी ज्यादा मदद व्यापारियों ने की थी। राजाओं और सेठों के खिलाफ जाने से बुद्ध को यह सुभीता नहीं मिलता।

सामाजिक हालत—बुद्ध के समय समाज में दास, कर्मकर बहुत ज्यादा थे। राजा, सेठ और पुरोहित उनके मत्थे मौज कर रहे थे।

वेद और उपनिषद् इसके खिलाफ नहीं थे। गरीब अपनी गरीबी को भगवान् की देन समझते थे। लूट को कायम रखने के लिए स्वार्थियों ने ब्रह्मवाद और पुनर्जन्म का प्रचार किया।

इन विचारों के मुकाबले बुद्ध का क्षणिकवाद क्रान्तिकारी था। संसार, समाज, आदमी सभी को वह क्षण-क्षण बदलनेवाला मानता था। बुद्ध ने विचारों को नदी पार करने के लिए बेड़े के समान माना, सिर पर ढोने के लिए नहीं। फिर भी बुद्ध ने दूसरे रूप में परलोक और पुनर्जन्म को माना। उन्होंने कर्म के सिद्धान्त को मजबूत किया। समाज में आर्थिक असमानता को कायम रखते हुए बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था, जातीय ऊँच-नीच के भाव को हटाना चाहा था। इससे आर्थिक असमानता दूर नहीं हुई मगर गरीबों में बौद्ध-धर्म के प्रति श्रद्धा पैदा हुई। बुद्ध ने गरीबी और दासता को खतम करने का प्रोग्राम नहीं बनाया था। गरीबी और दासता की कड़ाई को कुछ कम करने की मंशा शुरू में बौद्ध संघ में थी। उस समय कर्ज न अदा करने पर महाजन कर्जदार को खरीद लेते थे, इसलिए कितने ही कर्जदार भिक्षु बन जाते थे। लेकिन इससे महाजनों को नुकसान पहुँचता था। इसलिए बुद्ध ने कहा—"ऋणी को प्रव्रज्या (=संयास) नहीं देनी चाहिए।" (महावग्ग, १।३।४।८)। इसी तरह दासों के भिक्षु बनने से दासों के मालिकों को नुकसान होता था। इसलिए बुद्ध ने कहा—"दास को संन्यास नहीं देना चाहिए।" (वही, १।३।४।८)। बुद्ध के शिष्य मगध के राजा बिंबिसार के सैनिक लड़ाई में न जाकर भिक्षु बनने लगे। बिंबिसार ने जाकर बुद्ध से शिकायत की, तो बुद्ध ने कहा—"राजसैनिक को संन्यास नहीं देना चाहिए।" (महावग्ग १।३।४।२)

इन कमियों के होते हुए भी बुद्ध के विचारों ने साहित्य, दर्शन और कला को समृद्ध बनाया। बुद्ध धर्म का आज से सदियों पहले इस देश से नामोनिशान मिट गया। मगर वह चीन, जापान, कोरिया,

(५)

बुद्ध कालीन नाटक

बुद्ध का काल अर्थात् ईसा-पूर्व छठी-पाँचवीं शताब्दी में नाटक से जो अर्थ पीछे लिया जाता था, उसके होने की सम्भावना नहीं थी। पर, जीवन और उसकी घटनाओं का अनुकरण या अभिनय जिस तरह छोटे से बच्चे करते देखे जाते हैं, वह तो शैशव अवस्था में रहते मनुष्य में भी सम्भव है। उस समय परदे नहीं थे। वेष-भूषा, साज-सज्जा में भी बारीकी से अनुकरण नहीं किया जाता था, पर लोगों के मनोरंजन के लिये नाट्य की तरह की कोई चीज जरूर थी। अश्वघोष से लेकर सारे हिन्दू-काल में हमारे यहाँ नाटक लिखे जाते थे। कुछ उनमें पढ़ने ही के काम के थे, लेकिन इसमें तो सन्देह नहीं, कि अश्वघोष, भास, कालिदास ने जिन नाटकों का प्रणयन किया, वह पढ़ने के लिये नहीं, बल्कि प्रयोग— अभिनय—के लिये लिखे गये थे। प्राकृत काल (१–५५० ईसवी) तक संस्कृत को तद्भव से तत्सम कर देने पर समझना आसान था, इसलिये संस्कृत-प्राकृत मिश्रित नाटकों का समझना उस समय के बहुत बड़े जनसाधारण या शिक्षित-संस्कृत वर्ग के लिये आसान था। प्राकृत-काल के बाद लिखे हुये नाटकों के अभिनय से बहुत परिमित लोगों को ही आनन्द मिल सकता था, इसीलिये इस काल के नाटक प्राय: अभिनय के लिये नहीं, बल्कि काव्य की तरह से पढ़ने के लिये लिखे गये मालूम होते हैं।

पालि-साहित्य में पीछे लिखे जाने या अभिनीत होने वाले नाटकों का रवाज न होने पर भी अभिनय और तमाशे होते थे, जिन्हें पालि में समज्जा (समज्या) कहा जाता था। तत्कालीन भारत के सबसे शक्तिशाली राज्य मगध की, राजधानी राजगृह थी। राजगृह में एक बहुत बड़ी समज्जा होती थी, जिसे गिरग्ग-समज्जा कहते थे। शायद गिरि के अग्र या छोर पर होती थी, इसलिये उसका यह नाम पड़ा था। बुद्ध के समय पहाड़ों के भीतर—पुराने राजगृह के स्थान में—राजगृह बसा हुआ था। लकड़ी के मकानों कारण कभी-कभी आग लग जाने से शहर का बहुत सा भाग जल जाता था, इसलिये नियम बनाया गया, कि जिसके घर में पहले आग लगेगी, उसे पहाड़ से बाहर जाकर बसना पड़ेगा। संयोग से राजमहल में ही आग लगी, जिस पर अजातशत्रु को अपना महल बाहर बनाना पड़ा, और उसके साथ नवीन राजगृह की नींव पड़ी, जो अजातशत्रु के समय ही काफी तैयार हो चुका था। उसके उत्तराधिकारियों ने पहाड़ से हटा कर राजधानी को गंगा के किनारे पाटलिपुत्र (पटना) में लाना अच्छा समझा, और इसके कारण राजगृह परित्यक्त सा हो गया।

गिरग्ग समज्जा बिम्बिसार के समय (ई० पू० ४९३ से पहले) गिरग्ग समज्जा की बड़ी तैयारी होती थी। खुली जगह में अभिनय और तमाशे होते जिसके देखने के लिये लोग जमा होते थे। दूर से देखने में आसानी हो, इसके लिये साधारण लोग भी बैठने के वास्ते मचान बनाते थे, और मन्त्रियों और राजपुरुषों के लिये तो मचानों में आसन रक्खे जाते थे। इन आसनों में ऊन, लत्ते, छाल, घास और पत्ते के गद्दे रहते। समज्जा के खतम हो जाने पर उन्हें खोलकर उतार ले जाते। समज्जा के स्थान में बहुत से ऊन, लत्ते, छाल, घास-पत्ते गद्दे से बाहर निकाल कर फेंके मिलते। इन बेकार पड़ी चीजों का उपयोग किया जा सकता था। इसके बारे में बुद्ध से भिक्षुओं ने पूछा तो उन्होंने कहा—

'अनुमति देता हूँ, ऊन, लत्ता, छाल, तृण और पत्ता इन पांच के गद्दे की......उससे गद्दा सीने की।'

—(हिन्दी विनयपिटक, पृष्ठ ४५४)

विनयपिटक (पृष्ठ ४२०) से यह भी पता लगता है, कि गिरग्गसमज्जा में नाच, गाना, बजाना होता था।

राजगृह की गिरग्गसमज्जा में नाच, गाने, बजाने तथा उसके साथ किसी प्रकार के अभिनय करने का बड़ा मेला होता था। इसके लिये जगह और बैठने का ऊंचा स्थान बनाना मुश्किल नहीं था। लेकिन, जब कई हजार की जनता एकत्रित हो, तो वहां तक शब्दों का पहुँचना या दूर से अभिनय देखना सम्भव नहीं हो सकता, यह भोजपुरी क्षेत्र में प्रसिद्ध भिखारी ठाकुर के नाटकों से अच्छी तरह मालूम होता है। ठाकुर के नाटक इतने जनप्रिय हैं, कि खबर मिलते ही बीस-पचीस हजार दर्शकों का एकत्रित हो जाना बिल्कुल मामूली बात है, और न देख-सुन सकने पर अकसर गड़बड़ी भी हो जाती है। नाटक इसीलिये एक सीमित जनता के लिए ही हो सकता है। जिसके लिये दर्शकों के बैठने के स्थान को भी संकुचित रखना होता है। हो सकता है, राजाओं और उच्च वर्ग के लोगों के मनोरंजन के लिये सीमित जनों के बीच में भी अभिनय होता हो। पर, इसका उल्लेख हमें प्राचीन पालि-साहित्य में नहीं मिलता।

नृत्य भी एक प्रकार के अभिनय है, यद्यपि उसमें बहुत ऊंचे दर्जे का भाव-संकेत रहता है। सर्पनृत्य, सिंहनृत्य आदि आखिर नकल नहीं तो क्या है? नकल ही अभिनय है। हमारे देश में जो पीछे नाटक का विकास हुआ, उसमें यद्यपि यवन (ग्रीक) लोगों के सम्पर्क से भी कितनी ही चीजें सम्मिलित की गईं, पर इसका यह अर्थ नहीं, कि पहले अभिनय का बिल्कुल अभाव था। भिक्षुओं को

(६)

अवन्ती में धर्म प्रचार

यद्यपि बौद्ध-धर्म का आरम्भ काशी, कोसल, मगध, मल्ल, वज्जि, विदेह जन पदों में हुआ, जो आजकल पूर्वी उत्तर-प्रदेश और बिहार के नाम से मशहूर हैं। पर, उसके प्रसार में अवन्ती देश का महत्त्वपूर्ण हाथ था। आजकल जिसे हम मालवा कहते हैं, उसे बुद्ध काल में अवन्ती कहा जाता था। चौथी-पांचवीं सदी में पंजाब से भागे हुये मालवगण के लोगों ने जब अवन्ती की भूमि को दखल किया, तो उसका नाम मालव पड़ गया। अवन्ती-पुत्रों ने बौद्ध-धर्म के प्रचार में हाथ बंटाया, और यही नहीं, बल्कि उनकी भाषा का पालि के ऊपर भारी छाप है।

पालि मूलतः मागधी भाषा थी। पालि पांती को कहते हैं। बुद्ध के मुंह से निकली पालियों (पांतियों) के लिये ही पालि का प्रयोग पहिले होता था, पर युरोपीय विद्वानों को इस भाषा को कोई नाम देना चाहिये था, इसलिये उन्होंने उसे पालि कहना शुरू किया। अब स्थविरवाद के त्रिपिटक, अट्ठकथा (भाष्य) और दूसरे ग्रंथों की भाषा ही को पालि नहीं कहा जाता, बल्कि अशोक और उसके बाद वाली प्राकृत से पहले की भाषाओं को भी पालि में सम्मिलित किया जाता है। पालिकाल में अर्थात् ईसा-पूर्व की पांच शताब्दियों में

सारे उत्तरी भारत की भाषाओं का सम्मिलित नाम पालि कहा जा सकता है। लेकिन, उनमें स्थानीय भेद थे, यह अशोक के अभिलेखों से भी मालूम होता है। अवन्ती की भी अपनी एक भाषा रही, जिसका ही विकसित रूप आजकल की मालवी भाषा है। अवन्ती के पास ही दशार्ण जनपद था, जिसका नाम ढसान नदी में आज भी मिलता है, और वह आजकल के बुन्देलखण्ड के अधिकांश का नाम था। दशार्ण और अवन्ती की भाषा में उस समय क्या सम्बन्ध था, यह कहना मुश्किल है। बाज वक्त एक ही भाषा शताब्दियों तक विकसित होती एक प्रदेश में रहती आसपास के प्रदेशों पर भी छा जाती है, जहां की भाषायें अपना कुछ प्रभाव छोड़कर लुप्त हो जाती हैं। दशार्ण अवन्ती का पड़ोसी होने से दोनों की भाषाओं में यदि समीपता थी, तो यही मानना पड़ेगा, कि दशार्ण की भाषा को पांचाली ने आत्मसात् कर लिया।

पंचाल उपनिषद्-काल और बुद्ध के समय भी एक समृद्ध और विस्तृत जनपद था। आधुनिक रुहेल खण्ड कमिश्नरी और आगरा कमिश्नरी का बहुत सा भाग अर्थात् हिमालय की तराई से दक्षिण में जमुना तक यह महाजनपद फैला हुआ था। हो सकता है, उसने पास-पड़ोस के जनपदों की भाषाओं को भी अपनी लपेट में ले लिया, और इस प्रकार आज की बुंदेली, ब्रज, कनौजी, रुहेली भाषायें पांचाली के अन्तर्गत आगईं। हमारे यहां देश की सबसे बड़ी राजधानी, वहां की भाषा और संस्कृति सारे देश पर अपना प्रभाव रखती रही है। अशोक के समय मागधी भाषा और संस्कृति को यह पद मिला था। कुषाणों के वक्त उनकी राजधानी मथुरा होने के कारण उस देश (सूरसेन) की भाषा सौरसेनी को तीन शताब्दियों तक यह महत्वपूर्ण पद मिला। कनौजी (पांचाली) और सौरसेनी का प्राकृत काल में वैसा ही सम्बन्ध रहा, जैसा कि आजकल कनौजी और ब्रज का। इन दोनों में बहुत कम अन्तर है। वस्तुतः रुहेली,

कनौजी, ब्रज और बुंदेली को हम एक ही भाषा कह सकते हैं। इसे किसी समय मध्यदेशीया कहा जाता था। पीछे उसी को ग्वालेरी कहा गया, फिर सूरदास आदि के कृष्ण-काव्यों के प्रभाव के कारण उसे ही ब्रजभाषा कहा जाने लगा।

पुरानी अवन्ती की भाषा और लोगों ने बौद्ध-धर्म में अपने काम के कारण एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। पालि-त्रिपिटक की भाषा को मागधी कहने में विद्वानों को आपत्ति है, क्योंकि मागधी की विशेषता र की जगह ल और स का पूरा बायकाट करके उसके स्थान पर श का वहां अभाव देखा जाता है। यह विशेषता पांचाली-सौरसेनी आदि मध्यदेशीय भाषाओं में देखी जाती है, जिनका क्षेत्र गुजरात तक फैला हुआ था। इसलिये सन्देह होता है, कि मागधी की विशेषता को हटाने में अवन्ती का हाथ था। अशोक के समय विदिशा की माता की सन्तान महेन्द्र और उनके साथी सिंहल (श्रीलंका) में धर्म प्रचार करने गये। महेन्द्र का ननिहाल विदिशा (भिलसा) में भले ही रहा हो, किन्तु वह मगध-पुत्र थे, इसलिये यह कहना मुश्किल है, कि वह अपने साथ अपनी ननिहाल की भाषा लेते गये। सिंहल में दो-ढाई सौ वर्षों तक त्रिपिटक मौखिक रहा, और जब तक वह लिपिबद्ध नहीं हो सका, तब तक उसकी भाषा में परिवर्तन होता रहा, इसमें सन्देह नहीं। यह परिवर्तन कंठस्थ करनेवाले लोगों की ओर से होता रहा होगा। सिंहल के अधिकांश लोग गुजरात की ओर से गये। गुजरात और अवन्ती की भाषा में अब भी समीपता है, इस समीपता का कारण अवन्ती से जाकर गुजरात में बस गये लोग थे। अस्तु, त्रिपिटक की भाषा के आज के रूप में परिवर्तित करने में अवन्ती का भी हाथ था, यह मानना पड़ेगा।

बौद्ध-धर्म के अशोक-कालीन प्रचारकों में सभी अवन्ती दशार्ण के नहीं रहे होंगे, पर उनकी विश्वसनीय अस्थियां (धातु) विदिशा

और आसपास के स्तूपों में मिले हैं। अशोक के गुरु मोग्गलीपुत्त तिस्स का नाम हमें पुस्तकों से मालूम था, लेकिन उनकी अस्थियां सांची में ही मिलीं। इसी तरह उनके समय के कुछ दूसरे धर्म-प्रचारकों की अस्थियों को भी सम्मानपूर्वक वहाँ रक्खा गया था। यह यही बतलाता है, कि मालव भूमि बौद्धों का एक प्रधान-केन्द्र थी, जिसी के कारण महान् धर्मदूतों की पवित्र धातुओं और स्मृतियों को वहां रक्षित रखने की कोशिश की गई।

बुद्ध के समय में भी अवन्ती का विशेष महत्त्व था। हम जानते हैं, बुद्ध के सर्व-प्रमुख शिष्यों में सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप के बाद चौथा नम्बर महाकात्यायन का आता है। कात्यायन उज्जैन में पैदा हुये। वह अवन्तिराज प्रद्योत के पुरोहित के पुत्र और स्वयं भी राजपुरोहित थे। उनके बारे में पालि से हमें निम्न बातें मालूम होती हैं (अंगुत्तरनिकाय अट्ठकथा १.१.१०.)—

"(महाकात्यायन)......उज्जैन नगर में पुरोहित के घर उत्पन्न हुये।....उन्होंने बड़े हो तीनों वेद पढ़े, पिता के मरने पर पुरोहित का पद पाया। गोत्र के नाम से कात्यायन प्रसिद्ध हुये। राजा चण्ड-प्रद्योत ने अपने अमात्यों को इकट्ठा कर कहा—'तातो, लोक में बुद्ध उत्पन्न हुये हैं, उनको जो कोई ला सकता है, वह जाकर ले आवे।'

'देव, दूसरे नहीं ला सकते, आचार्य कात्यायन ब्राह्मण ही समर्थ हैं, उन्हीं को भेजिये।

राजा ने उनको बुलवा कर—'तात बुद्ध के पास जाओ।'

'हां, महाराजा, यदि प्रव्रजित होने की आज्ञा पाऊँ।'

'तात, जो कुछ भी करके, तथागत को ले आओ।'

उन्होंने सोचा—बुद्ध के पास जाने के लिये बड़ी जमात की अवश्यकता नहीं होती। इसलिये सात जने और अपने आठवाँ हो, भगवन्

के पास गये। तब शास्ता ने उनको धर्मोपदेश दिया। देशना के अन्त में वह सातों जनों सहित अर्हत्-पद को प्राप्त हुये। शास्ता ने 'भिक्षुओ, आओ' कह हाथ पसारा। उसी समय सभी के शिर-दाढी के बाल लुप्त हुये, ऋद्धि से मिले पात्र-चीवर धारण किये वह सौ वर्ष के स्थविर समान हो गये। स्थविर कात्यायन ने अपने कार्य के समाप्त होने पर, चुप न हो.........शास्ता को उज्जैन चलने के लिये यात्रा की प्रशंसा की। शास्ता ने उनकी बात सुन.........बुद्ध केवल एक कारण से न जाने योग्य स्थान में नहीं जाते, इसलिये स्थविर से कहा—'भिक्षु, तू ही जा, तेरे जाने पर भी राजा प्रसन्न होगा।'

महाकात्यायन बुद्ध की वंदना कर अपने साथवाले सात भिक्षुओं के साथ उज्जैन की ओर चले। रास्ते में तैलप्रणाली नामक कस्बा मिला। वहां एक होनहार कन्या देखी, जो महाकात्यायन की सिफारिश पर चण्ड प्रद्योत की पटरानी और उसके युवराज की माता हुई। इसका भी वर्णन उसी जगह है—

'उस नगर में दो सेठ की लड़कियाँ थीं, एक दरिद्र हो गये कुल में पैदा हुई, माता-पिता के मरने पर दाई के सहारे जी रही थी। दूसरी का रूप अति सुन्दर पर केशहीना थी। वह इसके पूर्व दूसरी के पास सन्देश भेज कर—'सौ या हजार दूँगी,' कह कर भी केश न पा सकी। उस दिन उस सेठ की लड़की ने सात भिक्षुओं के साथ स्थविर को खाली पात्र लौटते देख सोचा—'यह सुवर्ण-वर्ण एक ब्रह्म-बन्धु भिक्षु पहिले जैसे धोये (खाली) पात्र से ही लौटा जा रहा है। मेरे पास और धन नहीं है, लेकिन अमुक सेठ-कन्या ने इन केशों को माँग भेजा था। अब इससे मिले धन द्वारा स्थविर के लिये दान-धर्म किया जा सकता है'—दाई को भेज कर स्थविरों को निमंत्रित कर घर के भीतर बैठाया। स्थविरों के बैठने पर घर में जा दाई से अपने केशों को कटवा—'अम्म, इन केशों को अमुक सेठ-कन्या को दे आ, जो वह दे वह ले आ, आर्यों को मैं भिक्षा दूँगी।'

'दाई——हाथ से आंसू पोंछ, एक हाथ कलेजे को थाम, स्थविरों के सामने ढांक कर, उन केशों को ले, उस सेठ-कन्या के पास गई। सच है 'सार-पूर्ण उत्तम (वस्तु) स्वयं पास आने पर, आदर नहीं पाती' इसलिये उस सेठ-कन्या ने सोचा, 'मैं पहिले बहुत धन से भी इन केशों को न मँगा सकी, अब कट जाने के बाद तो कीमत के मुताबिक ही देना होगा, और दाई को कहा—

'पहिले मैं तेरी स्वामिनी को बहुत धन देकर भी, इन केशों को न मँगा सकी। जहाँ जी चाहे ले जा, जीते-बाल जीवित केश आठ ही कार्षापण के होते हैं' और आठ कार्षापण ही दिये।

'दाई ने कार्षापण ला सेठ-कन्या को दिये। सेठ-कन्या ने एक-एक कार्षापण का एक-एक भिक्षान्न तैयार कर, स्थविरों को प्रदान किया। स्थविर ने ध्यान से सेठ-कन्या के भाव को जान 'सेठ कन्या कहां है?' पूछा।

'घर में है, आर्य।'

'उसे बुलाओ।'

'स्थविर के गौरव से एक ही बात में स्थविरों को वन्दना कर उसने मन में बड़ी श्रद्धा उत्पन्न की। 'सुन्दर खेत में सुपात्र में दिया भिक्षान्न इसी जन्म में फल देता है'—इसलिये स्थविरों की वन्दना करते समय ही, केश पूर्ववत् हो गये। स्थविर उस भिक्षान्न को ग्रहण कर, सेठ-कन्या के देखते-देखते ही उड़ कर आकाश में जा कांचन-वन में उतरे। माली ने स्थविरों को देख, राजा के पास जाकर कहा—

'देव, आर्यपुरोहित कात्यायन प्रव्रजित हो, उद्यान में आये हैं।'

'राजा ने आनन्दित हो उद्यान में जा भोजन कर लेने पर पांच अंगों से स्थविरों को वन्दना कर, एक ओर बैठ कर पूछा—'भन्ते, भगवान् कहाँ हैं?

'महाराज, शास्ता ने स्वयं न आकर मुझे भेजा है।'

'भन्ते, आज भिक्षा कहां पर पाई?'

'स्थविर ने राजा के पूछने के साथ ही, सेठ-कन्या के सब दुष्कर कर्म को कह डाला। राजा ने स्थविर के लिये वास-स्थान का प्रबन्ध कर, भोजन का निमन्त्रण दिया, और घर जा सेठ-कन्या को बुला, अग्रमहिषी (पटरानी) के पदपर स्थापित किया। इस स्त्री को इस जन्म में ही यश प्राप्त हुआ। इसके बाद राजा स्थाविर का बड़ा सत्कार करने लगा।........उस देवी ने गर्भ धारण कर, दस मास बाद पुत्र प्रसव किया। उसका नाम उसके नाना सेठ के नाम पर गोपालकुमार रक्खा। वह पुत्र के कारण गोपाल-माता देवी के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसने स्थविर से अत्यन्त सन्तुष्ट हो, राजा से कह कर, कांचन-वन उद्यान (वैश्या टेकरी?) में स्थविर के लिये विहार बनवाया।

उज्जैन में राजकीय कांचन-वन बौद्ध कांचन-विहार के रूप में परिणत हुआ। वन उसी जगह रहा होगा, जहां नगर से बाहर अब भी उज्जैन के सबसे ऊँचे स्तूप का अवशेष देखा जा सकता है।

कात्यायन के समय अभी अवन्ती-दक्षिणापथ में भिक्षु बहुत कम थे। भिक्षु बनाने या दूसरी सांघिक कार्रवाइयों के लिये दस भिक्षुओं का कोरम माना जाता था। कुररघर अवन्ती का एक अच्छा खासा क़स्बा था। वहां का एक तरुण सोंण कुटिकरण कात्यायन के पास भिक्षु बनना चाहता था, लेकिन भिक्षुओं की संख्या दस नहीं हो पाती थी। कुटिकरण को किसी तरह दीक्षा मिली। कात्यायन को यह बात खटकी, कि कोरम न पूरा होने के कारण भिक्षुओं की उपसम्पदा न हो। मध्य देश से बाहर संख्या कम होनी चाहिये, इसी का ख्याल करके उन्होंने अपने शिष्य को बुद्ध के पास भेजा। कुटिकर्ण भगवान् के दर्शन करने के लिये बहुत उत्सुक थे। आज्ञा मागने पर कात्यायन्

ने अनुमति दी इसका वर्णन विनय-पिटक (महावग्ग ५ । ३) में इस प्रकार आया है—

'साधु, साधु, सोण, जाओ सोण० भगवान् के चरणों में वन्दना करना०—'भन्ते, मेरे उपाध्याय भगवान् के चरणों में सिरसे वन्दना करते हैं। और यह भी कहना—'भन्ते, अवन्ती-दक्षिणापथ में बहुत कम भिक्षु हैं। तीन वर्ष व्यतीत कर बड़ी मुश्किल से जहां-तहां से दशवर्ग भिक्षु-संघ एकत्रित कर मुझे उपसम्पदा मिली। अच्छा हो भगवान् अवन्ती-दक्षिणापथ में (१) अल्पतरगण (थोड़े कोरम) से उपसम्पदा की अनुज्ञा दें। अवन्ती-दक्षिणापथ में भन्ते, भूमि काली कड़ी, गोकंटकों से भरी है। अच्छा है भगवान् अवन्ती-दक्षिणापथ में (२) भिक्षु गण को गण-वाली पनही की अनुज्ञा दें। अवन्ती-दक्षिणापथ में भन्ते, मनुष्य स्नान के प्रेमी, उदक से शुद्धि माननेवाले हैं, अच्छा हो भन्ते, अवन्ती-दक्षिणापथ में (३) नित्य स्नान की अनुज्ञा दें। अवन्ती-दक्षिणापथ में भन्ते, चर्ममय आस्तरण (बिछौने) होते हैं, जैसे मेष-चर्म, अज-चर्म, ।० (४) चर्ममय आस्तरण की अनुज्ञा दें। भन्ते, इस समय सीमा से बाहर गये भिक्षुओं को मनुष्य चीवर देते हैं—'यह चीवर अमुक नामक को दो। 'वह आकर कहते हैं—'आवुस, इस नाम वाले मनुष्य ने तुझे चीवर दिया है।' वह सन्देह में पड़ उपभोग नहीं करता, कहीं हमें छोड़ने का प्रायश्चित न लग जाये। अच्छा हो भगवान् (५) चीवर-पर्याय कर दें।

'अच्छा भन्ते', कह·····सोणकुटकण्ण·····आयुष्मान् महाकात्यायतन को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर जहां श्रावस्ती थी, वहां को चले।०

'वहाँ भगवान् के पास गये।'

तब आयुष्मान् सोण ने—'भगवान्, मेरा अनुमोदन कर रहे हैं, यही इसका समय है'·····सोच आसन से उठ, उत्तरासंग एक कन्धे पर कर भगवान् के चरणों पर सिरसे पड़ कर भगवान् से कहा—

'भन्ते, मेरे उपाध्याय आयुष्मान् महाकात्यायन भगवान् के चरणों से सिरसे वन्दना करते हैं, और यह कहते हैं—

'भन्ते, अवन्ती-दक्षिणापथ में बहुत कम भिक्षु हैं०, अच्छा हो भगवान् ० चीवर-पर्याय (विकल्प) कर दें।'

तब भगवान ने इसी प्रकरण में धार्मिक-कथा कह कर भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—

'भिक्षुओं, अवन्ती-दक्षिणापथ में बहुत कम भिक्षु हैं। भिक्षुओं, सभी प्रत्यन्त (बाहरी) जनपदों में विनय धर को लेकर पांच (कोरम-वाले) भिक्षुओं के गण को उपसम्पदा करने की अनुज्ञा देता हूँ। यहां यह प्रत्यन्त सीमान्त जनपद देश हैं—पूर्व दिशा में कजंगल नामक निगम (कसबा) है, उसके बाद बड़े शाल के जंगल हैं, उसके परे इधर से बीच में प्रत्यन्त जनपद हैं। पूर्व-दक्षिण दिशा में सललवती नामक नदी है, उससे परे, इधर से बीच में प्रत्यन्त (सीमान्त) जनपद हैं। दक्षिण दिशा में सेतकण्णिक नामक निगम है०। पश्चिम दिशा में थूण नामक ब्राह्मण-ग्राम०। उत्तर दिशा में उशीरध्वज नामक पर्वत, उससे परे० प्रत्यन्न जनपद हैं। भिक्षुओ, इस प्रकार के प्रत्यन्त जन पदों में अनुज्ञा देता हूँ...विनयधर-सहित पांच भिक्षुओं के गण से उपसम्पदा करने की।——। सब सीमान्त-देशों में——पनही की ०। ० नित्य-स्नान की ०। ० सब चर्म...मेष-चर्म, अज-चर्म, मृग-चर्म की ०। ० ——अनुज्ञा देता हूँ·········चीवर उपभोग करने की, वह तब तक तीन चीवर में न गिना जाय, तब तक कि हाथ में न आ जाय।

अवन्ती (मालवा) ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी से ईसा की सातवीं शताब्दी तक बौद्ध-धर्म के लिये एक बहुत बड़ा केन्द्र रहा है। सांची के स्तूप अब भी वहाँ मौजूद हैं। बाग की बौद्ध-गुफायें और उनके चित्र प्रसिद्ध हैं। पर, रियासतों के कारण अवन्ती की पुरातात्त्विक

इस निकम्मे से बच्चे की ओर ध्यान नहीं देंगे। घुरहू, कतवारू, चमारू, चिथरू आदि नाम ऐसे ही हैं। बुद्ध के समय में भी ऐसे नामों के रखने की प्रथा थी। किसी सेठ ने अपने पुत्र को दीर्घजीवी करने के लिये उसका नाम सिगाल (सियार) रख दिया था। सिगाल को उपदेश देने की मनोरंजक घटना इस प्रकार है—

एक समय भगवान् राजगृह के वेणुवन कलन्द-निवाप में विहार करते थे।

उस समय सिगाल (शृगाल) नामक गृहपति-पुत्र सबेरे ही उठकर, राजगृह से निकल, भीगे-वस्त्र, भीगे-केश, हाथ जोड़े, पूर्व-दिशा, दक्षिण-दिशा, पश्चिम दिशा, उत्तर दिशा, नीचे की दिशा, ऊपर की दिशा—नाना दिशाओं को नमस्कार कर रहा था।

तब भगवान् पूर्वाह्ण-समय चीवर पहिन कर पात्र-चीवर ले, राज-गृह में भिक्षा के लिये प्रविष्ट हुये। भगवान् ने नाना दिशाओं को नमस्कार करते देखकर सिगाल गृहपति- पुत्र से कहा—

'गृहपति-पुत्र, सबेरे ही उठकर तू क्या, नमस्कार कर रहा है?'

'भन्ते, मेरे पिता ने मरते वक्त मुझे कहा है—'तात, दिशाओं को नमस्कार करना।' सो मैं भन्ते, पिता के वचन का सत्कार करते गुरुकार करते, मान करते, पूजा करते, सबेरे ही उठकर नमस्कार कर रहा हूँ।

'गृहपति-पुत्र, आर्य-विनय (आर्यधर्म) में इस तरह छ दिशायें नहीं नमस्कार की जातीं?

'फिर भन्ते, आर्य-विनय में कैसे छ दिशायें नमस्कार की जाती हैं? अच्छा हो, जैसे आर्य-विनय में दिशायें नमस्कार की जाती हैं, वैसे भगवान् मुझे उपदेश करें।

बुद्ध ने सिगाल को बतलाया—

जो (मद्य) पान का सखा होता है, सामने प्रिय बनता है, वह मित्र नहीं।

जो काम सर जाने पर भी, मित्र रहता है, वही सखा है।

अति-निद्रा, परस्त्रीगमन, वैर उत्पन्न करना और अनर्थ करना,

बुरे की मित्रता और बहुत कंजूसी, यह छः मनुष्य को बर्बाद कर देते हैं।

पाप-मित्र बुरे-मित्रवाला, पाप-सखा और पापाचार में अनुरक्त, मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों से ही नष्ट-भ्रष्ट होता है।

जुआ, स्त्री, वारुणी, नृत्य-गीत, दिन की निद्रा और अ-समय की सेवा;

बुरे मित्रों का होना, और बहुत कंजूसी—यह छः मनुष्य को बर्बाद कर देते हैं।

जो जूआ खेलते हैं, सुरा पीते हैं, परायी प्यारी स्त्रियों का गमन करते हैं,

नीच का सेवन करते हैं, पंडित का नहीं, वह कृष्णपक्ष की चन्द्रमा से क्षीण होते हैं।

जो वारुणी-रत, निर्धन, मुहताज, पियक्कड़, प्रमोदी होता है,

पानी में नाव की तरह ऋण में अवगाहन करता है; वह शीघ्र ही अपने को व्याकुल करता है।

दिन में निद्राशील रात के उठने में बुरा माननेवाला,
सदा नशा में मस्त शौंड गृहस्थी नहीं कर सकता।
'बहुत शीत है', 'बहुत उष्ण है', 'अब बहुत संध्या हो गई।'
इस तरह (बहाना) करते मनुष्य धनहीन हो जाते हैं।
जो पुरुष काम करते शीत-उष्ण को तृण से अधिक नहीं मानता।
वह सुखसे वंचित होनेवाला नहीं होता।

पर-धन-हारी मित्र, और जो बात बनानेवाला मित्र है।
प्रिय-भाणी मित्र और जो नशों में सखा है।
यह चारो अमित्र हैं, ऐसा जानकर पंडित पुरुष,
खतरे-वाले रास्ते की भांति उन्हें दूर से ही छोड़ दे।

सिगाल ने पिता की बात से छ: दिशाओं को प्रणाम करने का व्रत ले रक्खा था। बुद्ध ने उसे छ:नई दिशाओं की उपासना बतलाई, जिनमें पूर्व दिशा १. माता-पिता हैं, २. दक्षिण-दिशा आचार्य (गुरु) हैं, ३. पश्चिम दिशा पुत्र और स्त्री हैं, ४. उत्तर दिशा मित्र और अमात्य हैं, ५. नीचे की दिशा दास और कमकर हैं, ६. ऊपर की दिशा साधु विद्वान् हैं।

इन छओं दिशाओं की उपासना के रूप में मनुष्य का मनुष्य के साथ क्या कर्तव्य है, यह बुद्ध ने बात बतलाई। माता-पिता का क्यों सेवन करना चाहिए? इन्होंने मेरा भरणपोषण किया, इसलिये मुझे इनका भरण-पोषण करना चाहिये। मेरा काम किया है, अतः इनका काम मुझे करना चाहिये। इन्होंने कुल-वंश कायम रक्खा, अतः मुझे कुल-वंश कायम रखना चाहिये। इन्होंने मुझे दायज्ज (वरासत) दिया, अतः मुझे दायज्ज-प्रतिपादन करना चाहिये। ... ऐसे पांच तरह से सेवित माता-पिता पुत्रपर पांच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं— १. पाप से निवारण करते हैं। २. पुण्य में लगाते हैं। ३. शिल्प सिखलाते हैं। ४. योग्य स्त्री से सम्बन्ध कराते हैं। ५. समय पाकर दायज्ज निष्पादन करते हैं। गृहपति-पुत्र, इन पांच बातों से पुत्र द्वारा माता-पिता-रूपी पूर्वदिशा प्रत्युपस्थान (उपासना) की जाती है। —'इस प्रकार उस की पूर्वदिशा प्रतिच्छन्न (रक्षायुक्त) क्षेम-युक्त, भय-रहित होती है।"

२. आचार्य की सेवा उत्थान (स्वागतार्थ उठने), उपस्थान (खिदमत), शुश्रूषा और सत्संग से की जाती है।

३. भार्या की सेवा का तरीका है—सम्मान करना, अपमान न करना, व्यभिचार (अतिचार) न करना, धन-सम्पत्ति देना, आभूषण देना। ऐसा करने पर भार्या घर के काम-काज को भली प्रकार देखती है, नौकर-चाकर वश में रहते हैं। वह स्वयं अतिचारिणी नहीं होती, अर्जित धन की रक्षा करती सब कामों में निरालस होती है।

४. मित्र और अमात्यों की सेवा करने का ढंग है—कुछ देते रहना, मीठा बोलना, काम में सहायता करना, समानता का बर्ताव करना और विश्वासपात्र बनना। ऐसा करने पर वह मित्र आदमी की गाढ़े में रक्षा करते हैं, भूल करने पर सम्पत्ति को बचाते हैं, भय के समय शरण देते हैं, आपत्तिकाल में नहीं छोड़ते। ऐसे मित्रों वाले पुरुष का लोग सत्कार करते हैं।

५. उस समय हमारी जनता का काफी भाग दास-कमकर था। चौथाई से पाँचवें हिस्से तक नर-नारी दास-दासियों के रूपे में जंगम सम्पत्ति की तरह बेंचे जाते थे। आज दासता की बातों पर लोग विश्वास करने में झिझकते हैं, लेकिन आज से सवा सौ वर्ष से कम ही हुआ, जब कि हमारे देश में दासता खुल्लमखुल्ला चल रही थी, कानूनन विहित थी। हरद्वार में जहाँ अर्ध-कुम्भी होती रही है। वहाँ की हर की पौंडी को देखकर आदमी समझते हैं, पहले भी यहाँ ऐसी ही प्रशस्त भूमि रही होगी। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में हर की पौडी डांकना बड़े खतरे की बात समझी जाती थी। गंगा वहां पहाड़ से टकरा कर बहती थी, और उसी के किनारे पगडण्डी थी। वहाँ जरा सी असावधानी में आदमियों और पशुओं के नीचे कुण्ड में गिरने का डर रहता था। अब तो पहाड़ तोड़ कर वहाँ काफी जगह निकाल ली गई है, रेल को सुरंग से पार करा दिया गया है। १८१४ ई० तक यही खतरनाक जगह नेपाल और अंग्रेजों के राज्य की सीमा

थी। इस से जरा ही भीतर नेपाल में दास-दासियों की हाट लगा करती थी। अपने दस साल के शासन में नेपाली शासकों ने कई लाख गढ़वालियों को दास-दासी बन कर बिकने के लिये मजबूर किया। १८०८ ई० में अंग्रेज रेपर इधर से गुजरा था। उसने लिखा है—'हर की पौड़ी की ओर जानेवाले घाटे की जड़ में गोरखा चौकी है, जहाँ पर पहाड़ से दासों को ला कर बेचने के लिये प्रदर्शित किया जाता है। ३ से ३० वर्ष के ये बेचारे अभागे स्त्री-पुरुष सैकड़ों की संख्या में प्रतिवर्ष बाजार में बेंच दिये जाते हैं। ये दास पहाड़ के भीतरी सभी भागों से लाये जाकर हरद्वार में दस से डेढ़ सौ रुपये की दर से बेंचे जाते हैं।' यह आज से सिर्फ १४८ वर्ष पहले की बात है। ढाई हजार वर्ष पहले दासता का रूप और भी क्रूर रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। समता के प्रचारक बुद्ध और उनके शिष्य दासों के मुक्त करने की ओर ध्यान देते थे जरूर, पर दासों के रूप में लोगों की करोड़ों की सम्पत्ति फँसी हुई थी, जिसके डूबने पर भयंकर वावेला मचता। राजा बिम्बिसार ने एक दास के भिक्षु बनाये जाने पर इस खतरे को बतलाया, इस पर बुद्ध ने दासता से मुक्त न हुये पुरुष-स्त्री को संघ में लेना मना कर दिया। बुद्ध दास-प्रथा नहीं उठा सके, लेकिन दासों के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिये, इसे उन्होंने जरूर हृदयंगत कर। कमकर वेतनभोगी सेवक को कहते थे और दास बिकनेवाले नर-नारी को। इनकी सेवा के लिये बुद्ध ने कहा—

'गृहपति-पुत्र, पाँच प्रकारों से आर्यक (मालिक) द्वारा दास-कर्मकर रूपी निचली-दिशा का प्रत्युपस्थान करना चाहिये—(१) शक्ति के अनुसार काम देने से, (२) भोजन-वेतन प्रदान से, (३) रोगि-सुश्रूषा से, (४) उत्तम रसों वाले पदार्थों को प्रदान करने से, (५) समय पर छुट्टी देने से। इन पाँचों प्रकारों से.....प्रत्युपस्थान किये जाने पर दास-कर्मकर पाँच प्रकार से मालिक पर अनुकम्पा करते हैं—(१) मालिक से पहिले, (विस्तर से) उठ जानेवाले होते हैं।

आदमी ! तुझे क्या है, इस पापी दुर्जीवन से, जीने से मरना अच्छा है।' इस प्रकार के चित्त-विचार से, इस प्रकार के चित्त-संकल्प से, अनेक प्रकार से जो मरने की तारीफ करे, या मरने के लिये प्रेरित करे। वह पाराजिक होता है, अ-संवास होता है। (विनयपिटक, पाराजिका ३)

मनुष्य-बध के लिये उन्होंने भिक्षु के लिये अन्तिम दण्ड निश्चित किया है, जिसे बौद्ध परिभाषा में पाराजिका कहते हैं। पाराजिका के अपराधी को हमेशा के लिये संघ से निकाल दिया जाता है।

प्राणियों की हिंसा क्यों नहीं करना चाहिये, इसको युक्ति-सहित प्रतिपादित करते वह धम्मपद में कहते हैं (दण्डवग्ग, १, २)—

सभी प्राणी दण्ड से त्रस्त होते हैं, सभी मृत्यु से भय खाते हैं; अत:

अपने को उदाहरण करके आदमी को न हनन करना चाहिये, न कराना चाहिये।,

सभी प्राणी दण्ड से त्रस्त होते हैं, सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है ; अत:

अपने को उदाहरण करके आदमी को न हनन करना चाहिये, न कराना चाहिये ॥ २ ॥

प्राणी सुख चाहते हैं, उनकी जो दण्ड से हिंसा करता।

अपना सुख चाहता हुआ, वह मर कर सुख नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ३ ॥

किसी को परुष वाक्य मत बोलो, कहने पर वह वैसे ही जवाब देगा।

क्रोधपूर्ण कथा दु:खकारी होती है, उससे बदले में आदमी को दण्ड प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

हिंसा से रोकने की बहुत सी बातें बुद्ध के जीवन में मिलती हैं। उन्होंने अहिंसामय धर्म को फैलाने में अपने जीवन और बाद में भी

बड़ी सफलता पाई थी। उस समय अभी देवमूर्तियों और उनकी पूजा का प्रचार नहीं सा था, और धनिक ब्राह्मण और क्षत्रिय बड़े-बड़े यज्ञ करते थे। यज्ञ बिना पशु-हिंसा के नहीं हो सकते थे, इसलिये एक-एक यज्ञ में सैकड़ों पशु मारे जाते थे। मगध देश के खाणुमत गाँव के धनाढ्य और विद्वान् ब्राह्मण कुटदन्त का संवाद इसका उदाहरण है।

कुटदन्त बिम्बिसार राजा का सम्मानित तथा उसकी ओर से ब्राह्मणोंत्तर ग्राम पाये बड़े सुख का जीवन बिता रहा था। उस समय उसने एक बड़े यज्ञ की तैयारी कर रक्खी थी, जिसके लिये ७०० बैल, ७०० बछड़े, ७०० बछियाँ, ७०० बकरियाँ, ७०० भेड़ें यज्ञ के लिये यूप (खम्भे) पर ला रक्खे गये थे। इसी समय बुद्ध विचरते हुये खाणुमत में पहुँचे। कुटदन्त ने भी दर्शन करने के लिये आकर यज्ञ के बारे में पूछा। बुद्ध ने पौराणिक महाविजित राजा और उसके पुरोहित की कथा सुना कर बतलाया, कि उसने भी यज्ञ किये थे। पहले दस सदाचारों का उसने पालन किया। फिर किसी को भी जरा भी कष्ट नहीं देकर यज्ञ किया। 'उस यज्ञ में गायें नहीं मारी गईं। बकरे-भेड़ें नहीं मारे गये। मुर्गे-सूअर नहीं मारे गये। न नाना प्रकार के प्राणी मारे गये। न यूप (स्तम्भ) के लिये वृक्ष काटे गये। न परहिंसा के लिये दर्भ काटे गये। जो भी उसके दास, नौकर, कमकर थे, उन्होंने भी दण्ड-तर्जित, भय-तर्जित हो अश्रुमुख रोते सेवा नहीं की। जिन्होंने काम करना चाहा, उन्होंने किया, जिन्होंने नहीं चाहा, उन्होंने नहीं किया। जो चाहा उसे किया, जो नहीं चाहा उसे नहीं किया। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु, गुड़ से ही वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ।' ब्राह्मण कुटदन्त ने बहुत सन्तुष्ट होकर कहा—

'आप गौतम, आज से मुझे अंजलिबद्ध उपासक मानें। हे गौतम, यह मैं ७०० बैलों, ७०० बछड़ों, ७०० बछियों, ७०० बकरों, ७०० भेड़ों को छुड़वा देता हूँ, जीवनदान देता हूँ। वह हरी घास खावें, ठण्डा पानी पीवें, उनके लिये ठण्डी हवा चलें।' (दीघनिकाय १।५)

बुद्ध के समकालीन जैन-धर्म के संस्थापक श्रमण महावीर भी अहिंसा के जबरदस्त समर्थक थे। सच तो यह है, कि वह इसके विषय में और भी आगे तक जाते थे और अदृश्य कीटों, रास्ते चलती चीटियों और दूसरे क्षुद्र जन्तुओं की भी हिंसा न करने का आदेश देते थे। बुद्ध अपने सभी सिद्धान्तों के अनुसार अहिंसा में भी दोनों अतियों को छोड़ कर मध्य-मार्ग को स्वीकार करते थे। उस समय एक परम्परा थी, कि प्राचीनकाल के ब्राह्मण हिंसावाले यज्ञों को नहीं किया करते थे। उनमें लोभ पैदा हुआ, तब उन्होंने सैकड़ों प्राणियों की हिंसावाले आडम्बरपूर्ण यज्ञों को करना-कराना शुरू किया। सुत्तनिपात (२.७) के 'ब्राह्मणधम्मिय सुत्त' में इसी बात की उन्होंने श्रावस्ती में कोसल निवासी विद्वान् महावैभवशाली वृद्ध ब्राह्मणों के सामने कहा था—

'पुराने ऋषि संयमी और तपस्वी होते थे।
पाँच भोगों को छोड़ कर वह अपने परमार्थ में लगे रहते थे ॥१॥

उन ब्राह्मणों के पास न पशु थे, न सोना, न अनाज।
वह स्वाध्याय रूपी धनधान्यवाले थे, वह ब्रह्मनिधि का पालन करते थे ॥२॥

नाना रंग के वस्त्रों, शयन और अतिथिशालाओं से युक्त,
समृद्ध जनपद और राष्ट्र उन ब्राह्मणों को नमस्कार करते थे।
ब्राह्मण अ-बध्य, अ-जेय, धर्मसे रक्षित थे।
कुलों के द्वारों पर जाने से उन्हें कोई नहीं रोकता था।
वह ४८ वर्ष तक कौमार-ब्रह्मचर्य पालन करते थे।
पूर्व काल में ब्राह्मण विद्या और आचरण की खोज में लगे रहते थे ॥६॥

वह ब्रह्मचर्य, शील, अकुटिलता, मृदुता, तप,
सुरति, अहिंसा और क्षमा की प्रशंसा करते थे ॥६॥

तण्डुल शय्या, वस्त्र, घी और तेल को मांग कर,
धर्म के साथ निकाल कर वह यज्ञ करते थे ॥११॥
यज्ञ उपस्थित होने पर वह गाय को नहीं मारते थे ॥१२॥
जैसे माता, पिता, भ्राता और दूसरे बन्धु हैं,
वैसे ही गायें हमारी परममित्र हैं, जिनमें औषध-उत्पन्न होते हैं ॥१३॥
यह अन्नदा, बलदा, वर्णदा तथा सुखदा हैं।
इस बात को जान कर वह गाय को नहीं मारते थे ॥१४॥
सुकुमार, महाकाय, वर्णवान्, यशस्वी,
ब्राह्मण इन धर्मों के साथ कर्तव्य-अकर्तव्य में तत्पर हो,
जब तक संसार में वर्तमान थे, तब तक यह प्रजा सुख से रही ॥१५॥
शनैः शनैः राजा की सम्पत्ति, अलंकृत स्त्रियों,
उत्तम घोड़े जुते सजे विचित्र सिलाईवाले रथों,
खण्डों में बंटी हवेलियों और कोठों को देखकर उनमें उलट्टापन आया ॥१६,१७॥

ब्राह्मणों ने गोमंडल से आकीर्ण सुन्दर स्त्रियों-सहित,
बड़े-बड़े मानुस भोगों का लोभ किया ॥१८॥
तब वह मन्त्रों को रचकर राजा इक्ष्वाकु के पास गये, और बोले,
तू बहुत धनधान्यवाला है, तेरे पास वित्त बहुत है, यज्ञ कर ॥१६॥

ब्राह्मणों द्वारा चेताये जाने पर उस महारथी राजा ने, अश्वमेध, पुरुषमेध, बाजपेय, सर्वमेध एक-एक यज्ञ करके ब्राह्मणों को धन दिया ॥२०॥

लोभ में पड़े उन ब्राह्मणों की इच्छा और भी बढ़ी,
वह मन्त्र रचकर फिर इक्ष्वाकु के पास गये ॥२३॥
'जैसे पानी, पृथिवी, सोना, धन-धान्य है,
ऐसे ही गायें मनुष्यों के लिये हैं, प्राणियों की उपभोग हैं।
तेरे पास बहुत धन हैं, यज्ञ कर ॥२४॥

तब ब्राह्मणों द्वारा प्रेरित होकर महारथी राजा ने,
अनेक सौ हजार गायें यज्ञ में हनन कीं ॥२५॥

जो न पैर से, न सींग से किसी से भी नहीं मारतीं।
जो गायें भेड़ के समान प्यारी और घड़े भर दूध देने वाली हैं।
उन्हें सींग से पकड़ कर राजा ने हथियार से मारा ॥२६॥

तब देव, पितर, इन्द्र, असुर राक्षस चिल्ला उठे--
'अधर्म हुआ, जो गाय के ऊपर शस्त्र गिरा ॥२७॥

पहले संसार में तीन ही रोग--इच्छा, क्षुधा और बुढ़ापा थे।
अब पशु-हिंसा से वह अठानवे हो गये ॥२८॥

यह ठीक है, कि ऐतिहासिक तौर से देखने पर बुद्ध के पहले किसी काल में भी बिना पशुहिंसा के यज्ञ नहीं होते थे। उनसे प्रायः छ सौ वर्ष पहले ऋग्वेद के प्राचीनतम ऋषि भरद्वाज, वसिष्ठ, विश्वामित्र और उनके यजमान दिवोदास और सुदास सप्तसिन्धु (पंजाब) में हुये थे, यज्ञों और देवार्चना के उल्लेख ऋग्वेद में मिलते हैं। मोटी भेड़ें और वृषभ (सांड) यज्ञ में मारे जाते थे। तो भी कोई परम्परा ऐसी जरूर थी, और ऐसे सन्त (अर्हत्) पुरुष होते आये थे, जो हिंसा का विरोध करते हुये इस कथा को दोहराते थे।

जातक कथाओं में अहिंसा व्रत को और भी आग्रह पूर्वक माना गया है। अपने लिये प्राणियों को मारने की तो बात दूसरी, भूखी बाघिन और उसके बच्चों के लिये अपना शरीर देने तक की बात वहां आती है। इससे मालूम है, कि अहिंसा का कितना अधिक बुद्ध और बौद्ध ख्याल रखते थे। बुद्ध से सवा दो सौ वर्ष बाद अशोक हुये। उन्होंने भोजनशाला के लिये पशुओं की हत्या कम करा दी थी। उस समय मांस आज की तरह शौक और व्यसन का भोजन नहीं था, बल्कि वह हमारे देश के लोगों का साधारण भोजन था। उत्तर-प्रदेश की भूमि में, जहां आज छ करोड़ आदमी रहते हैं, उस समय पचास

लाख भी न रहें होंगे। सभी जगह घोर जंगल थे, जिनमें शिकार के पशु भरे पड़े थे। प्राकृतिक झीलों और गड्हों, नदियों और जलाशयों में मछलियां भरी हुई थीं। ऐसी भूमि में मांस-मछली यदि मनुष्य के आहार का बहुत बडा भाग हो, तो आश्चर्य नहीं। बंगाल का उदाहरण हमारे सामने है। यद्यपि वहां जंगलों की बहुतायात नहीं है, लेकिन जलाशयों की है, और वह हमारे यहां की तरह वर्षा के दो ही महीने बाद बिल्कुल सूख नहीं जाते, बल्कि उनमें साल भर पानी रहता है। मछलियां वहां सुलभ हैं, इसीलिये अहिंसा के जबर्दस्त प्रचारक वैष्णवों ने भी मछली को आमिष में नहीं, बल्कि निरामिष भोजन में गिन लिया है। जब मांस-मछली इतना सुलभ हो, और महल से झोंपड़ी तक सभी जगह वह रोज भोजन के लिये तैयार किया जाता हो, तो भिक्षावृत्ति रखनेवाले भिक्षुओं को सामिषभोजन से बँचना मुश्किल था। इसीलिये बुद्ध ने हिंसा का विरोध करते हुये भी सामिष आहार को अभक्ष्य नहीं बतलाया था। वह स्वयं भी मांस-भोजन से इन्कार नहीं करते थे, इसकी कई घटनायें उनके जीवन में मिलती हैं।

बुद्ध के समय वैशाली एक आदर्श, बलशाली और वैभवशाली गणराज्य था। वहां का सेनापति सिंह अपनी वीरता के लिये बहुत ख्याति रखता था। यह ख्याति बिल्कुल ठीक थी, क्योंकि सिंह के नेतृत्व में वैशाली के लिच्छवियों की सेना अपने समय के भारत के सबसे शक्तिशाली राजा अजातशत्रु के दांत खट्टे करती रहती थी। अजातशत्रु अपने राज्य की सीमा को अंग और मगध तक ही सीमित नहीं रखना चाहता था, उसकी गृध्र-दृष्टि गंगा पार लिच्छवियों की समृद्ध भूमिपर थी। उसने आक्रमण करके मुंहकी खाई, और लिच्छवियों ने सस्ते ही उसके जान नहीं छोड़ी, बल्कि गंगा पार हो मगध में, पीछे जहाँ पाटलिपुत्र नगर बसा, वहां छव महीनों आकर डेरा डाल देते थे। वस्तुतः उन्हीं से प्रतिरक्षा के लिये अजातशत्रु ने इस नगर को बसाया था। सिंह सेनापति पहले जैन था, पीछे बुद्ध

के उपदेशों को सुनकर बौद्ध हो गया। उसने भगवान् और संघ को भोजन के लिये निमन्त्रण दिया। स्वीकृति पाने पर सिंह सेनापति ने एक आदमी से कहा—'हे आदमी, जा तू तैयार मांस को ढूंढ़ला।'

सिंह सेनापति ने फिर घर में उत्तम खाद्यभोज तैयार किया। भगवान् भिक्षु-संघ के साथ पूर्वाह्ण के समय सिंह सेनापति के घर जाकर बिछे आसनपर भोजन के लिये बैठे। भोजन में मांस भी था। जैन साधु सिंह सेनापति के अपने पंथ से बिटल जाने से बहुत नाराज थे। इसकी कसर निकालने के लिये वह मुस्तैद हो गये, और वैशाली में एक सड़क से दूसरी सड़क पर, एक चौरस्ते से दूसरे चौरस्ते पर बांह उठाके चिल्लाते फिरते थे—'आज सिंह सेनापति ने मोटे पशुओं को मार कर श्रमण गौतम के लिये भोजन पकाया। श्रमण गौतम जान बूझकर अपने ही निमित्त तैयार किये मांसको खा रहा है। (सीह सुत्त, अंगुत्तर ८।१।२।२) बुद्ध ने सिंह के भोज में मांस जरूर खाया, पर वह उनके लिये मारे हुये पशु का मांस नहीं था, बल्कि हाट में बिकता कसाई का मांस था।

जिस रात्रि को बुद्ध-निर्वाण प्राप्त हुये, उससे पहले दिन का और उनके जीवन का अंतिम भोजन भी सामिष था। जिस वैशाख पूर्णिमा की २५वीं शताब्दी मनाई जा रही है, उसी दिन की बात है। बुद्ध कुसीनारा—आधुनिक कसया, जिला देवरिया—के पास के पावा कस्बे में चुन्द सुनार के बगीचे में ठहरे हुये थे। पावा सम्भवतः पडरौना के पास का पपउर गांव है, जो पावापुर का बिगड़ा हुआ रूप है। चुन्द ने उस दिन भोजन के लिये भारी तैयारी की थी, और 'न बहुत तरुण, न बहुत जूने एक वर्ष बड़े सूअर का मांस—शूकर मार्दव.... बनवाया था।" बुद्ध ने भिक्षु-संघ के साथ चुन्द के दिये भोजन को ग्रहण किया, और उसे आशीर्वाद देकर चले आये। वृद्ध शरीर तो

था ही, और कुछ ही महीनों पहले एक बड़ी बीमारी से उठे थे; इसलिये पेचिश की शिकायत हो उठी। लेकिन, बुद्ध कुसीनारा में निर्वाण प्राप्त करने का निश्चय कर चुके थे, और पौन योजन (६ गव्यूति) के मार्ग को बीस-पचीस स्थानों में विश्राम लेते मध्याह्न से चलकर सूर्यास्त के समय कुसीनारा पहुँचे। अन्त में वह उन जुड़वां साखू के वृक्षों के नीचे पहुँचे, जो मानो भगवान् के अंतिम स्वागत के लिए सुगन्धित कोमल श्वेत पुष्पों से लदे थे। अन्तिम शय्या पर लेटे बुद्ध को चुन्द के भोजन का ख्याल आया। उन्होंने आयुष्मान् आनन्द से कहा—

आनन्द, शायद कोई चुन्द को क्षुब्ध करे, और कहे,—"चुन्द तुझे अलाभ है, तूने दुर्लाभ कमाया, जो कि तथागत तेरे पिंडड को भोजन कर निर्वाण को प्राप्त हुये। आनन्द, तुम चुन्द की इस चिन्ता को दूर करते कहना—बाबू, लाभ है तुझे, तूने लाभ कमाया, जो कि तथागत तेरे पिण्ड को भोजन कर निर्वाण को प्राप्त हुये। मैंने भगवान् के मुख से सुना, मुख से ग्रहण किया—ये दोनों पिण्ड एक समान एक फल और विपाक वाले हैं, वह दूसरे पिण्डों से महा फलप्रद और श्रेष्ठ हैं। कौन से दो? (१) जिस पिंडों को भोजन कर तथागत बुद्धत्व प्राप्त हुये, और (२) जिस पिण्ड को भोजन कर तथागत निर्वाण को प्राप्त हुये।

सिंह सेनापति और चुन्द के भोजों से स्पष्ट है, कि बुद्ध निरामिषभोजी नहीं थे। बुद्ध के साले देवदत्त बुद्ध के शिष्य बने। पीछे देवदत्त की इच्छा हुई, कि मैं ही बुद्ध की गद्दी सँभालूं। पर, बुद्ध किसी को अपनी गद्दी का महन्त बनाना नहीं चाहते थे। उन्होंने भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं के संघ को अपना उत्तराधिकारी माना था। असफल होने पर देवदत्त ने बुद्ध से भारी वैर ठान लिया और उन्हें पत्थर मारने से भी वाज नहीं आया। भिक्षु-संघ में फूट

डालने के लिये उसने तरह-तरह से कोशिशें कीं। उनमें एक यह भी थे, कि बुद्ध को ऐसे नियमों के पालन करने और विधान बनाने के लिये मजबूर करें, जो व्यवहार में आ न सकें। यदि बुद्ध उन्हें मंजूर न करें, तो बदनाम किया जाय। विनयपिटक के चुल्लवग्ग (संघभेदक स्कन्ध) में इस घटना का उल्लेख आया है। देवदत्तने बुद्ध के पास जाकर पाँच नियमों को बनाने के लिये कहा—'(१) भिक्षु जिन्दगी भर वन में निवास करें, जो गांव में बसे, उसे दोष है। (२) वह जिन्दगी भर मधुकरी माँग कर खानेवाले रहें, जो निमंत्रण खाये उसे दोष है। (३) वह जिन्दगी भर फेंके चीथड़ों को सी कर पहनने वाले रहें, जो गृहस्थ के दिये नये वस्त्र को धारण करे पहने, उसे दोष है। (४) वह जिन्दगी भर वृक्ष के नीचे रहनेवाले रहें, जो छत के नीचे रहे, उसे दोष है। (५) वह जिन्दगी भर मछली मांस न खायें, जो मछली-मांस खायें, उसे दोष है।'

बुद्ध ने जवाब में कहा—'जो चाहे चीथड़े सी कर पहनने वाला हो, जो चाहे गाँव में रहे, जो चाहे मधुकरी मांगनेवाला हो।........ मैंने आठ महीने वृक्ष के नीचे रहने की अनुमति दी है। अदृष्ट, अश्रुत और अपरिशंकित तीन प्रकार से परिशुद्ध मांस के खाने की भी अनुमति दी है।' अदृष्ट का अर्थ है 'मेरे लिये मारा गया' यह उस ने देखा न हो। अश्रुत का अर्थ है 'मेरे लिये मारा गया,' यह उसने सुना न हो। अपरिशंकित का अर्थ हैं 'मेरे लिये मारा गया,' यह सन्देह न हो। ऐसा मांस उस समय भी सुलभ था, और आज भी। भिक्षा के लिये घूमनेवाले भिक्षु को क्या पता है, किसके घर में क्या पका है। मांस पका है, तो वह उसके लिये मारे हुये पशु का पका होगा, यह सम्भव नहीं है। इसीलिये त्रिकोटि-परिशुद्ध मांस को बुद्ध और बौद्धों ने अभक्ष्य नहीं माना। आज निरामिषाहार तथा परम अहिंसा के पक्षपाती कह सकते हैं, कि यह तो केवल बहाना है। यदि आदमी मांस-मछली न खाये, तो लोग प्राणियों

को मारे क्यों ? उस समय भी ऐसे एतराज किये गये थे। इसीलिये महायान ने मांस-मछली को अभक्ष्य बना दिया। जापान कोरिया, मंगोलिया, तिब्बत जैसे महायान-प्रधान सभी बौद्ध देशों में भी महायान के इस नियम का पालन नहीं किया जाता। वहाँ निरामिषाहारियों की संख्या बहुत कम है। चीन के भिक्षु इसका बड़ी कड़ाई से पालन करते हैं। चीनी गृहस्थ जैसे सभी प्रकार के मांस को खाने के लिये तैयार मिलते हैं, उसी तरह वहां के भिक्षु मांस-मछली से बहुत कड़ाई के साथ परहेज करते हैं। उसका एक फल तो यह हुआ है, कि चीन के भिक्षुओं ने निरामिषाहार के सैकड़ों स्वादिष्ट प्रकार तैयार किये।

अच्छी तरह देखने पर यह मालूम होगा, कि मांसाहार के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण ज्यादा बुद्धिपूर्वक है। यदि हर एक आहार के प्राप्त करने के पीछे होने वाली पीड़ा और हिंसा का विचार किया जाये, तो कोई भी आहार शुद्ध नहीं मिल सकता। अन्न को जो किसान पैदा करते हैं, और कठिनाइयों के कारण अपने बच्चों को भूखा रख कर उसे बेंच देते हैं। ऐसे अनाज के एक-एक दाने में भी हिंसा लगी हुई है। गुड़ तथा दूसरे बहुत से खाद्य कई प्राणियों के प्राण-वियोग के साथ बनते हैं। खेतों में हल जोतते वक्त न जाने कितने आंखों से देखे जाने वाले प्राणी मारे जाते हैं। धान के खेतों में तो और भी अधिक, क्योंकि बरसात के कारण हजारों केचुएँ और दूसरे जन्तु उस वक्त पैदा होकर घूमते रहते हैं। फसल नुकसान करने वाले प्राणियों—टिड्डियों—और दूसरों का संहार हिंसा है और हिंसा द्वारा प्राप्त अन्न उससे अछूता नहीं रह सकता। आजकल फसल की रक्षा या स्वास्थ्य-रक्षा के लिये जितनी कृमिनाशक औषधों का प्रयोग और छिड़काव किया जाता है, वह अरबों प्राणियों की हिंसा का कारण बनता है। यदि इन सबका ख्याल किया जाये और हिंसा से बचने का प्रयत्न करें, तो हम किसी खाद्य को ग्रहण नहीं कर सकते।

फिर आँखों से देखे जानेवाले जन्तुओं से भी अधिक संख्या ऐसे प्राणियों की है, जो अदृश्य हैं, जिन्हें अणुवीक्षण के सहारे ही हम देख सकते हैं। आखिर उनमें भी तो जीवन है, और उनके जीवन के नाश का हरेक प्रयत्न हिंसा है। बुद्ध ने भी पानी छान कर पीने के लिये कहा है, और जैन तो उसमें और भी कड़ाई से बर्ताव करते हैं। पानी पीने से होनेवाली हिंसा का सारा पाप अपने ऊपर न पड़े और उसमें से कुछ को दूसरा भी बाँट ले, इसके लिये कितने ही श्रद्धालु जैन, आगन्तुक से पूछते हैं— लीजिये, आप पानी पीजिये। आदमी सहज भाव से कह देता है—नहीं, नहीं, मुझे प्यास नहीं है, आप पीजिये। भला उस आदमी को क्या पता है, कि यह पानी पीने की हिंसा से होनेवाले पाप को बाँट कर देने के लिये शिष्टाचार दिखाया जा रहा है।

हिंसा और अहिंसा की सीमा है। अहिंसा का आदमी एक सीमा तक ही पालन कर सकता है। क्योंकि सारा जीवन हिंसा पर ही निर्भर है। खाने-पीने ही में नहीं, बल्कि सांस लेने में भी हिंसा होती है। इन्हीं सबका ख्याल करके निरामिष आहार में भी एक सीमा तक ही जाने के लिये बुद्ध ने कहा। जो मांसाहारी क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी को भी अपने हाथों मारने की हिम्मत नहीं रखता, वह कभी कठोर हृदय का नहीं हो सकता। इसके विरुद्ध अहिंसा का झंडा गाड़नेवाले जो निरामिषाहारी अपने ठेकों में पशुओं को मरवा कर फौजों को मांस सप्लाई करते हैं, या अपने स्वार्थ के लिये लोगों का सर्वस्व हर कर उनके बाल-बच्चों को भूखे विलख-विलख कर मरने के लिये छोड़ देते हैं, उनका हृदय अवश्य ज्यादा कठोर हो सकता है। अदृष्ट, अश्रुत और अपरिशंकित की जो मर्यादा मांसाहार में बुद्ध ने मानी है, वह ज्यादा बुद्धिपूर्वक है। उसके कारण अहिंसा के नियम का उल्लंघन नहीं होता, क्योंकि हम एक सीमित क्षेत्र तक ही अहिंसा का पालन कर या करा सकते हैं।

जो लोग बुद्ध के उपदेशों और बौद्ध ग्रंथों को नहीं पढ़ते और अपने आप गढ़ कर बुद्ध के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं, उनके लिये क्या कहा जाय? बुद्ध अनीश्वरवादी थे। बौद्ध-धर्म में ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं है, लेकिन कितने ही लोग उन्हें ईश्वर भक्त साबित करने का प्रयत्न करते हैं। इसी तरह बुद्ध की अहिंसा के बारे में भी लोग मनगढ़न्त बातों को कहते हैं। त्रिकोटि-परिशुद्ध मांस को बुद्ध ने भक्ष्य माना है। कौन मांस भक्ष्य है, कौन अभक्ष्य- इसमें वह उस समय के भारतवर्ष की मर्यादा को मानते थे। जिन पशुओं के मांस को तत्कालीन भद्रजन भक्ष्य मानते थे, उन्हीं को वह भी भक्ष्य कहते थे। विनय पिटक (महावग्ग, भैषज्य-स्कन्धक) में अभक्ष्य मांस का निर्देश किया गया है। इसकी कथा निम्न प्रकार आती है—

'तब भगवान् क्रमशः चारिका करते जहाँ वाराणसी है, वहां पहुँचे। वहां भगवान् वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव में विहार करते थे। उस समय वाराणसी में सुप्रिय नामक उपासक और सुप्रिया नामक उपासिका, दो श्रद्धालु रहते थे। वह दाता और संघ के सेवक थे। सुप्रिया उपासिका एक दिन आराम में जा एक विहार (भिक्षुओं के रहने की कोठरी) से दूसरे विहार, एक परिवेण से दूसरे परिवेण में जा भिक्षुओं से पूछती थी—

'भन्ते, कौन रोगी है? किसके लिये क्या लाना चाहिये?'

उस समय एक भिक्षु ने जुलाब लिया था। उस भिक्षु ने सुप्रिया उपासिका से कहा—

भगिनी, मैंने जुलाब ली है। पथ्य की आवश्यकता है।

अच्छा आर्य, लाया जायेगा।—कह घर जा नौकर को उसने आज्ञा दी—

जा रे, तैयार मांस खोज ला।

आर्ये, तैयार मांस नहीं है। आज मारा नहीं गया।

चारों ओर नृत्य करतीं और लोग सत्य-सदाचार आदि अच्छे गुणों का अभ्यास करते। तीनों गुरुओं, हजार देवताओं और ६१९ दिव्य-शक्तियों को भेंट-पूजा चढ़ाई जाती, हजार विद्वान् भिक्षुओं और ब्राह्मणों का भोज होता। लेख के अगले भाग में जयवर्मा की बनवाई आरोग्य-शालाओं का विवरण है—'भिन्न-भिन्न प्रान्तों में ११७ आरोग्य-शालायें और ६६८ मन्दिर (औषधालय) स्थापित हैं, जिनमें रहने वाले बीमारों और दूसरों को १,१७,२०० खारिका (साढ़े तीन लाख मन से अधिक) प्रति वर्ष देना होगा।' लेख में कई बातों के आंकड़े दिये गये हैं। अस्पतालों और मन्दिरों का खर्च चलाने के लिये ८३८ गांव लगे थे। वहां ८१,६४० स्त्री-पुरुष काम करते थे। सरकारी भण्डार से जो चीजें दी जाती थीं, उनमें अन्न के अतिरिक्त मधु, मोमबत्ती, पीपल, अजवाइन, क्षार, दो प्रकार का कपूर, इलायची, सूखा अदरक और दवाइयों के १६६० छोटे-छोटे बक्स थे। अन्त में राजा ने प्रार्थना की थी—'मेरे इन पुण्य कर्मों से मेरी मां भवसागर-मुक्त हो बुद्धपद प्राप्त करे।'

प्रशस्ति के अन्त में लिखा है, कि राजा श्री जयवर्मा के पुत्र श्री सूर्यकुमार ने इसे महादेवी के सम्मान में बनाया।

जयवर्मा सप्तम के आरोग्यशाला-सम्बन्धी दस शिलालेख मिले हैं, जिनकी प्रशस्तियां करीब-करीब एक-सी हैं। शिलालेखों में पहिले बुद्ध के निर्माण, धर्म और सम्भोग इन तीनों कार्यों को नमस्कार किया गया है, रोगान्धकार के दूर करने वाले भैषज्य-गुरु बुद्ध, बोधिसत्त्व, सूर्य वैरोचन, चन्द्ररोची, चन्द्र वैरोचन, रोहिणीश की महिमा गाई गई है। फिर राजा जयवर्मा के बारे में लिखा है—'मनुष्य की शारीरिक व्यथा उस राजा के लिये आत्मिक मालूम हुई वह रोगी की अपेक्षा उसे अधिक कष्टकर थी, क्योंकि अपना नहीं, प्रजा का दुःख राजाओं को दुःखी बनाता है। ………उसने चिकित्सा-

शास्त्र में निपुण वैद्यों की सहायता से राज्य के शत्रुओं—रोगों को नष्ट किया। अभिलेख से पता लगता है, कि आरोग्यशालायें बुद्ध-भैषज्य गुरु के मन्दिर के चारों ओर बनाई जाती थीं, और बिना भेद-भाव के चारों वर्णों के लिये खुली हुई थीं। उनमें दो प्रकार के भृत्य थे—आरोग्यशाला-भवन में रहने वाले (स्थितिदायी) और बाहर रहने वाले (स्थितिदा)। पहिली श्रेणी में दो चिकित्स, दो सेवक, दो भण्डारी, दो रसोइया, दो औषधकारक, चौदह धात्री और आठ दूसरी औरतें, जिनमें दो चावल कूटती थीं। दूसरी श्रेणी में ६६ आदमी थे। फिर चीजों, विशेषकर दवाइयों की एक बड़ी सूची दी गई है, जिसे कि राजकीय भण्डार से प्रत्येक रोगी को दिया जाता था। अन्त में आरोग्यशाला वाले गांवों के लोगों को जो सुविधायें, प्राप्त थीं, वह भी गिनाई गई हैं—वहां के लोग कर और बेगार से मुक्त थे, प्राणियों के साथ क्रूरता का बरताव करने पर ही उन्हें दण्ड मिलता था।

यह था कम्बोजराज सप्तम जयवर्मा, जो कि कन्नौज के राजा जयचन्द का समकालीन था। उसने अपने राज्य में एक-दो नहीं, एक-सौ-दो अस्पताल और ७९८ भैषज्य गुरु मन्दिर (औषधालय) बनवाये थे।

बुद्ध के शारीरिक व्याधियों के हर्ता होने का यह रूप भिन्न-भिन्न देशों और कालों में कितने ही लोगों को प्रभावित करने में सफल हुआ। सबसे प्रथम अशोक इससे प्रभावित हुये थे, जिन्होंने जगह-जगह मनुष्य-चिकित्सा और पशु-चिकित्सा के लिये चिकित्सालय बनवाये और औषधियों तथा जड़ी-बूटियों को अपने देश में ही नहीं, यूनानी लोगों के देशों तक भेजा। कोई आश्चर्य नहीं, यदि जयवर्मा ने भैषज्यगुरु के इस रूप से प्रभावित होकर चीन से बंगाल की खाड़ी तक अपनी विशाल आरोग्यशालाओं का जाल बिछा दिया। जयवर्मा

ने ११६० ई० में चम्पा को जीता था, अर्थात् उससे दो साल पहले, जब कि मुहम्मदगोरी ने भारत पर विजय प्राप्त की।

सिर्फ कम्बुज ही में नहीं, यही बात उन सभी देशों में हुई, जहां बुद्ध का संदेश पहुँचा। बुद्ध आदर्शवादी थे, लेकिन केवल आकाश-लोक में विचरण करनेवाले नहीं। वह संसार के दुःख को मिटाना परमलक्ष्य मानते थे, लेकिन स्वर्ग का प्रलोभन देकर नहीं। 'बहुजन हिताय-बहुजनसुखाय' सब कुछ करना, जिसने अपना उद्देश्य रक्खा हो, वह लोगों के शारीरिक दुःख, शारीरिक व्याधि से कैसे उपेक्षा कर सकता था? उनके जीवन की ऐसी अनेक घटनायें मिलती हैं, जब कि उन्होंने मानसिक व्याधि और चिन्ता के दूर करने से पहले शारीरिक व्याधि और चिन्ता की ओर पहले ध्यान दिया। वह करुणा के अवतार थे, इसे दुनिया जानती है। अपने आसपास को दुःखी देखकर वह चुप नहीं रहते थे। अक्सर दुखियों को जाकर देखते, उन्हें सान्त्वना देते। विनयपिटक के महावग्ग में एक घटना आई है—

'उस समय एक भिक्षु को पेट की बीमारी थी। वह अपने पेशाब-पाखाने में पड़ा हुआ था। तब भगवान् आयुष्मान् आनन्द को पीछे लिये घूमते, जहाँ उस भिक्षु का विहार था, वहाँ पहुँचे।.........। जहाँ वह भिक्षु था, वहाँ गये। जाकर उस भिक्षु से पूछा—'भिक्षु, तुझे क्या रोग है?' 'पेट की बीमारी है भगवान्।' 'भिक्षु तेरा कोई परि-चारक है।' 'नहीं भगवान्।' 'क्यों तेरी सेवा नहीं करते?' 'भन्ते, मैं भिक्षुओं का कुछ न करनेवाला हूँ, इसलिये ० ... ...।'

'तब भगवान् ने आयुष्मान् आनन्द से कहा—'जा आनन्द, पानी ला, इस भिक्षु को नहलायेंगे।'.........आनन्द पानी लाये। भगवान् ने पानी डाला, आयुष्मान् आनन्द ने पैर से उठा कर चारपाई पर लिटाया। तब भगवान् ने——इसी प्रकरण में भिक्षुओं को इकट्ठा कर के कहा। 'भिक्षुओं, तुम्हारी माता नहीं, पिता नहीं, जो कि तुम्हारी

सेवा करेंगे। यदि तुम एक दूसरे की सेवा न करोगे, तो कौन करेगा? जो रोगी की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है। यदि उपाध्याय हो, तो उपाध्याय को जीवन भर उपस्थान (सेवा) करना चाहिये। ······ यदि आचार्य·····।····शिष्य····। ·····गुरु-भाई····।·····यदि न उपाध्याय है न आचार्य हो·····तो, संघ की सेवा करनी चाहिये। सेवा न करे, तो दुष्कृत की आपत्ति है।'

बुद्ध ने इक्के-दुक्के रोगियों की सुश्रुषा करके ही सन्तोष नहीं किया, और सिर्फ इतने से ही उन्हें भैषज्य गुरु नहीं कहा गया। अपने समय भारत में चिकित्साशास्त्र ने जितनी उन्नति की थी, उसका उन्हें काफी ज्ञान था। इस ज्ञान को उन्होंने अपने शिष्यों में प्रचार करने की अवश्यकता समझी। भैषज्य-गुरु की यह परम्परा इतनी चली, कि हरेक बौद्ध-विहार या मठ चिकित्सकों और चिकित्सा का स्थान बन गया। विनयपिटक में एक पूरा अध्याय (स्कन्धक, खन्धक) है, जिसका नाम भैषज्य स्कन्धक (महावग्ग ६) है। इसमें बुद्ध ने दवाइयों के बारे में कहा है। इसके आरम्भ में आया है—

'उस समय बुद्ध भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डक के जेतवन में विहार करते थे।

उस समय भिक्षु शरद की बीमारी (जूड़ी बुखार) से उठे थे, उनका पिया यवागू (खिचड़ी) भी वमन हो जाता था, खाया भात भी वमन हो जाता था। इसके कारण वह कृश, रुक्ष और दुर्वर्ण पीले-पीले नसों से-सटे-शरीर वाले हो गये थे। भगवान् ने उन भिक्षुओं को कृश ० नसों से-सटे शरीरवाला देखा। देखकर आयुष्मान् आनन्द से पूछा—

'आनन्द, क्यों आजकल भिक्षु कृश० नसों से सटे-शरीर वाले हो गये हैं?

'इस समय भन्ते, भिक्षु शरद की बीमारी से उठे हैं, उनका पिया यवागू भी वमन हो जाता है ० नसों से-सटे-शरीर वाले हो गये हैं।'

'तब एकान्त में स्थित विचार मग्न होते समय भगवान् के मन में ख्याल पैदा हुआ—इस समय भिक्षु शरद की बीमारी से उठे हैं ० नसों से-सटे-शरीरवाले हो गये हैं। क्यों न भिक्षुओं को ऐसे भैषज्य (औषध) की अनुमति दूँ, जिसको लोग भैषज्य मानते हैं, और वह आहार का काम भी कर सके, किन्तु स्थूल-आहार न समझा जाये। तब भगवान् को यह हुआ—यह पाँच भैषज्य हैं, जैसे कि—घी मक्खन, तेल, मधु और खांड—इन्हें लोग भैषज्य भी मानते हैं, और यह आहार का काम भी कर सकते हैं, किन्तु स्थूल-आहार नहीं समझे जाते। क्यों न मैं भिक्षुओं को इन पाँच भैषज्यों को समय से लेकर समय पर उपयोग करने की अनुमति दूं?

तब भगवान् ने सायंकाल को एकान्त चिन्तन से उठकर इसी सम्बन्ध में इसी प्रकरण में धार्मिक कथा कह भिक्षुओं को सम्बोधित किया —

'भिक्षुओ, आज एकान्त में स्थित हो विचार-मग्न होते समय मेरे मन में ख्याल पैदा हुआ — इस समय भिक्षु शरद की बीमारी से उठे हैं ० क्यों न मैं भिक्षुओं को अनुमति दूं।

भिक्षुओ अनुमति देता हूँ, पाँच भैषज्यों को पूर्वाह्ण में लेकर पूर्वाह्ण में सेवन करने की।

बुद्ध ने जिन और औषधियों को इस स्कन्ध में बताया है, उनको निम्न भागों में बाँटा जा सकता है—

औषधियां—चर्बीवाली दवा, मूलकन्द की दवा (हल्दी, अदरख, बछ, अतीस, खस, नागरमोथा आदि)।

नीम, कुटज, पटोल, नक्तमाल आदि कषायकी दवाइयाँ। पत्ते की दवाइयाँ। विडंग, पिप्ली, मिर्च, हर्रा-बहेला - आंवला आदि फल की

वर्ण-भेद और वर्ण-व्यवस्था का विरोध बुद्ध के उपदेशों में जगह-जगह मिलता है। बिहार के आजकल मुंगेर, भागलपुर और सहरसा के जिलों के जनपद को उस समय अंग-जनपद कहा जाता था। यद्यपि वह स्वतन्त्र राज्य न रह मगध के आधीन हो गया था, पर उसकी पुरानी राजधानी चम्पा गंगा के किनारे बसी एक समृद्ध व्यापारिक नगरी थी। आजकल वह भागलपुर शहर का एक भाग—चम्पा नगर—के रूप में मौजूद है। बुद्ध वर्षाकाल में तीन महीने के लिये एक जगह ठहर जाते, चौमासे के बाद फिर ग्राम-नगर घूमते लोगों को उपदेश देते थे। साधुओं में अब भी चौमासा रखने का रवाज है, पर उसके लिये कोई साधु बाध्य नहीं है। बुद्ध अंग देश में चारिका करते चम्पा नगरी में पहुँच वहां की गर्गरा पुष्करिणी के तीर किसी बगीचे में ठहरे हुये थे। गर्गरा (घाघरा) पोखरी का अब वहां पता नहीं है। चम्पा को मगधराज बिम्बिसारने अपने पूज्य ब्राह्मण सोणदण्ड (स्वर्णदण्ड) को प्रदान किया था। वह जनाकीर्ण, तृण-काष्ठ-उदक-धान्य-सहित समृद्ध नगरी थी। बुद्ध की ख्याति सारे उत्तरी भारत में फैली हुई थी, इसलिये वह जहां भी जाते, लोग उनके दर्शन और उपदेश श्रवण के लिये आया करते थे। ब्राह्मण सोणदण्ड को पता लगा, तो वह भी बहुत से ब्राह्मणों के साथ बुद्ध के पास चला।

पुष्करिणी नगर से बाहर थी, जहां पास में वनखण्ड भी था। वहां जाने पर सोणदण्ड के मन में तर्क-वितर्क होने लगा: यदि मैं प्रश्न पूछने में कोई गलती करूं, और बुद्ध मेरी गलती को पकड़ें, तो इससे हमारी मण्डली के लोग समझेंगे, कि सोणदण्ड ब्राह्मण अज्ञानी है, इसे सवाल पूछने का भी सहूर नहीं। लोग जब इस तरह तिरस्कार-बुद्धि रखेंगे, तो मेरा यश कम हो जायेगा। यश के कम होनेपर भोग भी कम हो जायेंगे, क्योंकि यश से ही तो हमें भोग मिलता है। यदि गौतम ने ही कोई ऐसा सवाल पूछ दिया, जिसका

मैं जवाब नहीं दे सका, तब भी वही बात होगी। इतना नजदीक आकर यहां से घर लौटना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसपर भी लोग यही कहेंगे: सोणदण्ड ब्राह्मण बड़ा अभिमानी है, और साथ ही भीरु भी।

यही सोचते सोणदण्ड भगवान् के पास गया। वह सोच रहा था: अच्छा होता, श्रमण गौतम मेरी जानी हुई बातों में से किसी के सम्बन्ध में चर्चा करते। मानो उसके भावों को जानकर ही बुद्ध ने कहा—

'ब्राह्मण, किन-किन गुणों से युक्त पुरुष को ब्राह्मण कहते हैं, और अपने को ब्राह्मण समझ आदमी झूठ बोलनेवाला नहीं होता ?'

सोणदण्ड की बांछें खिल गईं। यही तो वह चाहता था। यह तो ब्राह्मणों के शास्त्र के भीतर की बात थी। उस समय वर्णों को किस आधार पर माना जाता था, इसका पता सोणदण्ड और बुद्ध के इस संवाद से मिलता है। (सोणदण्ड सुत्त, दीघनिकाय १.४)—

सोणदण्ड ने कहा—'पांच बातों से युक्त को: (निम्न) (१) माता-पिता दोनों ओर से वह सुजात हो; (२) वेदाध्यायी, मन्त्रधर और तीनों वेदों में पारंगत हो; (३) सुन्दर, दर्शनीय, अच्छे रंगवाला हो ; (४) सदाचारी हो और (५) पण्डित, मेधावी, यज्ञ-दक्षिणा पानेवालों में ऊँचा स्थान रखता हो।

बुद्ध ने पूछा—'क्या इन पांच बातों में एकके कम होने से भी ब्राह्मण हो सकता है ?'

—'हां, वर्ण (गोरे रंग) को छोड़ा जा सकता है, यदि बाकी चार बातें उसमें हैं, तो वह ब्राह्मण है।'

बुद्ध ने पूछा—क्या बाकी चार बातों में किसी एक को छोड़ने पर ब्राह्मण कहा जा सकता है ?

—हां, मन्त्र (वेद) के अध्ययन-अध्यापन की बात छोड़ी जा

सकती है, यदि वह सुजात, सदाचारी और पण्डित है, तो उसे ब्राह्मण कह सकते हैं।

बुद्ध ने पूछा—क्या इन तीनों में से भी किसी एक को छोड़ कर बाकी दो से ब्राह्मण हो सकता है?

—हां, सुजात के नियम को छोड़ सकते हैं। सदाचारी और पण्डित होने से उसे ब्राह्मण कहा जा सकता है।

सोणदण्ड के यह कहने पर उसके साथ आई ब्राह्मण-मण्डली में हल्ला मच गया। वह कहने लगे— आप सोणदण्ड, ऐसा मत कहें, ऐसा मत कहें। आप तो वर्ण का प्रत्याख्यान करते हैं, वेद का प्रत्याख्यान करते हैं, जाति का प्रत्याख्यान करते हैं। इस प्रकार तो आप श्रमण गौतम के ही विचारों को अपना रहे हैं।

सोणदण्ड बेचारा असमंजस में पड़ गया। इसी समय बुद्ध ने ब्राह्मणों से कहा—यदि तुम सोणदण्ड को कम पढ़ा अ-सुवक्ता और दुष्प्रज्ञ समझते हो, तो तुम ही मेरे साथ बात करो। यदि तुम सोण-दण्ड में वह गुण मानते हो, तो उसे ही बात करने दो।

यह सुन कर सोणदण्ड की हिम्मत बढ़ी, उसने भगवान् से कहा—"आप थोड़ा ठहरें, मैं ही इनका जवाब देता हूँ।" यह कह कर सोणदण्ड ने ब्राह्मणों से अपने भांजे अंगद को दिखला कर कहा—"आप सब हमारे भांजे अंगद को देख रहे हैं न।"

—हाँ जी।

—यह अंगक वर्ण-सम्पन्न है। इस सारी मण्डली में श्रमण गौतम को छोड़ कर और कोई उसके समान सुन्दर वर्ण (रंग) वाला नहीं है। अंगक वेदाध्यायी, वेदपाठी, मंत्रधर, निघंटु-कल्पव्याकरण-सहित तीनों वेदों और पाँचवें इतिहास में भी पारंगत है। वह कवि है। वह माता-पिता दोनों ओर से सुजात है। यदि अंगक ऐसा होते भी हिंसा

करे, चोरी करे, पर स्त्री-गमन करे, झूठ बोले, मद्य पीये, तो बतलाओ उसके वर्ण (रंग) से क्या बनेगा, पढ़े वेद से क्या होगा, सुजात होने का मोल क्या ?

ब्राह्मणों के पास इसका उत्तर नहीं था। बुद्ध ने फिर पूछा—'इन दोनों बातों में क्या एक को छोड़ कर भी ब्राह्मण कहा जा सकता है ?'

सोणदण्ड ने कहा—नहीं, हे गौतम, शील (आचार) से धुली (प्रज्ञा ज्ञान) और प्रज्ञा से धुला शील है। जहाँ शील है वहाँ प्रज्ञा है, जहाँ प्रज्ञा है वहाँ शील है। शीलवान् के पास प्रज्ञा होती है, और प्रज्ञावान के पास शील। तो भी संसार में शील (सदाचार) को प्रज्ञा का अगुवा माना जाता।

बुद्ध ने आचार और ज्ञान को आदमी की श्रेष्ठता के लिये मुख्य कसौटी रक्खा। सदाचारी और ज्ञानी पुरुष चाहे किसी जात का, किसी वर्ण या रंग का हो, उसे वह श्रेष्ठ मानते थे।

दीघनिकाय के 'अम्बट्ठ सुत्त' में भी बुद्ध ने वर्ण-भेद पर प्रहार किया है। गंगा से उत्तर का आज का अवधीभाषी भूभाग प्राचीनकाल में कोसल के नाम से पुकारा जाता था। श्रावस्ती (सहेटमहेट, जिला गोंडा) उसकी राजधानी अचिरवती (राप्ती) के किनारे बसी थी। साकेत (अयोध्या) भी उसका एक प्रधान नगर था। उसी कोशल देश में इच्छानंगल नामक एक ब्राह्मणों का गाँव (नगला) था। उस समय हमारे देश की आबादी आजकल की दशांश भी नहीं थी, इसलिए खेत कम और जंगल ज्यादा थे। हर गांव का अपना-अपना वनखण्ड होता था। बुद्ध बस्ती के बाहर ठहरा करते थे। वह एक बार घूमते हुये इच्छानंगल के वनखण्ड में ठहरे थे। कोशलराज प्रसेनजित ने अपने माननीय ब्राह्मण पौष्करसादि (पुष्करसद-गोंची) को इच्छानंगल का बड़ा गाँव दान (बिरता) दे रक्खा था। नगला बड़ा समृद्ध जनाकीर्ण था। पौष्करसादि अपने समय का बड़ा विद्वान और प्रभाव

शाली ब्राह्मण था। उसके पास सैकड़ों विद्यार्थी पढ़ते थे। जब उसने सुना, श्रमण गौतम हमारे वनखण्ड में आये हैं, तो स्वयं जाने में अप्रतिष्ठा या हिचकिचाहट रखते उसने अपने प्रधान विद्यार्थी अम्बष्ठ को बुद्ध से जाकर बातचीत करने के लिये कहा। अम्बष्ठ तरुण था। उस समय के ब्राह्मणों के सारे शास्त्रों और वेदों का उसने अच्छी तरह अध्ययन किया था, विद्या का गर्व भी उसमें था। सुना था, कि बुद्ध ब्राह्मणों की कितनी ही बातों का खण्डन करते हैं। इसलिये वह शास्त्रार्थ में उन्हें पराजित करने के ख्याल से वहाँ पहुँचा। समय मिलने-जुलने का नहीं था। बुद्ध अपनी कोठरी के भीतर थे, बाहर दरवाजा बन्द था। भिक्षुओं ने अम्बष्ठ से कहा—यह द्वारबन्द कोठरी है। वहाँ चुपचाप धीरे से जाकर बरान्डे में पहुँच खांस कर जंजीर खटखटाओ, ताले को हिलाओ, भगवान् तुम्हारे लिये दरवाजा खोल देंगे।

उसने वैसा ही किया। भगवान् ने दरवाजा खोल दिया। अम्बष्ठ कोठरी के भीतर गया। वह श्रमण गौतम के प्रति कोई शिष्टाचार दिखाना आवश्यक नहीं समझता था। इसलिए बुद्ध के खड़े हो टहलते समय बैठा-बैठा सवाल पूछने लगा। यह शिष्टाचार के विरुद्ध था किसी भी संस्कृत व्यक्ति का शिष्टाचार विहीन होना बुद्ध को पसन्द नहीं हो सकता था। उन्होंने पूछ दिया—। 'अम्बष्ठ, क्या तुम्हारे यहाँ वृद्ध सम्माननीय आचार्य-प्राचार्य ब्राह्मण के साथ वार्तालाप करने का यही तरीका माना जाता है ?

अम्बष्ठ ने कहा--नहीं, हे गौतम हमारे यहाँ माना जाता है, कि चलते हुए ब्राह्मण के साथ चलते, खड़े ब्राह्मण के साथ खड़े, बैठे ब्राह्मण के साथ बैठे हुये बात करनी चाहिए। सोये ब्राह्मण के साथ सोये भी बातचीत कर सकते हैं। किंतु हे गौतम, जो यह मुंडिया, साधु, नीच, काले ब्रह्मा के पैर की संतान हैं, उनके साथ ऐसा ही वार्तालाप होता

है जैसा कि आप के साथ। बुद्ध ने समझाते हुये कहा--अम्बष्ठ, तेरा आना यहाँ याचक की तरह हुआ। आदमी जिस मतलब से आये, वह उसको मनमें रखना चाहिये। जान पड़ता है, तूने आचार्य-के पास वास नहीं किया। क्या बिना वास करे ही गुरुकुल के वास का तू अभिमान करता है?

अम्बष्ठ ने बचपन से गुरु के चरणों में बैठ कर शास्त्र-वेद पढ़ा था। उसे बुद्ध की बात बहुत बुरी लगी। उसने खुनसाते-निन्दा करते कहा—

'हे गौतम, शाक्य लोग चण्ड होते हैं। हे गौतम, शाक्य लोग क्षुद्र हैं। वह बकवासी, नीच होने से ब्राह्मणों का सत्कार नहीं करते, उन्हें मानते-पूजते नहीं।' सो यह अनुचित है, जो नीच शाक्य ब्राह्मणों का सत्कार नहीं करते।

बुद्ध ने पूछा··'अम्बष्ठ, शाक्यों ने तेरा क्या कसूर किया?'

अम्बष्ठ ने कहा·····'एक समय मैं अपने आचार्य के किसी काम से कपिलवस्तु के संस्थागार (संसद्भवन) में गया था। उस समय बहुत से शाक्य और शाक्य-कुमार संस्थागार में ऊँचे आसनों पर बैठे, एक दूसरे को अँगुली गड़ाते हँसते मानों मेरे ऊपर ही हँस रहे थे। किसी ने मुझे आसन पर बैठने को नहीं कहा। सो हे गौतम, यह अनुचित है, कि जो यह नीच शाक्य ब्राह्मणों का सत्कार नहीं करते।

बुद्ध ने कहा·····'अम्बष्ठ, गौरैया चिड़िया भी अपने घोंसले पर स्वच्छन्द अलापिनी होती है। कपिलवस्तु शाक्यों का अपना है। इस थोड़ी सी बात से तुम्हें उन पर अमर्श नहीं करना चाहिये।'

अम्बष्ठ ने कहा·····'हे गौतम, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। इनमें क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीनों वर्ण ब्राह्मण के ही सेवक हैं। इसलिये शाक्यों का आचरण अनुचित था।'

बुद्ध ने बराबर बढ़-बढ़ कर बातें करते देख अम्बष्ठ से पूछ दिया—

'अम्बष्ठ, तुम्हारा क्या गोत्र है ?'

अम्बष्ठ ने उत्तर दिया—'मैं कृष्णायन हूँ ।'

बुद्ध ने कहा—'अम्बष्ठ, तुम्हारे पुराने इस नाम-गोत्र के अनुसार तो शाक्य स्वामि-पुत्र (आर्यपुत्र) हैं, और तुम शाक्यों के दासी-पुत्र हो। शाक्य राजा इक्ष्वाकु के वंशज हैं। पूर्वकाल में राजा इक्ष्वाकु ने अपनी प्रिया-रानी के पुत्र को राज्य देने की इच्छा से उल्का मुख, करण्डु, हत्थिनिक, और सिनीसूर नामक चार बड़े लड़कों को राज्य से निर्वासित कर दिया। वह निर्वासित हो, हिमालय के पास सरोवर के किनारे एक बड़े शाकवन में वास करने लगे। जाति के बिगड़ने के डर से अपनी बहिनों के साथ उन्होंने संवास किया। अम्बष्ठ, राजा इक्ष्वाकु ने अपने अमात्यों और दरबारियों को पूछा—'कहाँ हैं भो, इस समय कुमार ?'

'देव, हिमवान् के पास सरोवर के किनारे महाशाक-वन में इस वक्त कुमार रहते हैं। वह जाति के बिगड़ने के डर से अपनी बहिनों के साथ संवास करते हैं।'

'तब अम्बष्ठ, राजा इक्ष्वाकु ने उदान कहा—'अहो, कुमार, शाक्य (समर्थ) है रे ! महाशाक्य हैं रे कुमार !' तब से अम्बष्ठ, वह शाक्य के नाम ही से प्रसिद्ध हुये, वही इक्ष्वाकु उनका पूर्वपुरुष था। अम्बष्ठ, राजा इक्ष्वाकु की दिशा नाम की दासी थी। उससे कृष्ण (कण्ह) नामक पुत्र पैदा हुआ। पैदा होते ही कृष्ण ने कहा—'अम्मा, धोओ मुझे, अम्मा, नहलाओ मुझे, इस गंदगी से मुझे मुक्त करो, मैं तुम्हारे काम आऊँगा।' अम्बष्ठ, जैसे आजकल मनुष्य पिशाचों को 'पिशाच' कहते हैं, वैसे ही उस समय पिशाचों को, कृष्ण कहते थे। उन्होंने कहा—इसने पैदा होते ही बात की, अतः यह

'कृष्ण पैदा हुआ', 'पिशाच पैदा हुआ।' इसी के (वंशज) आगे कृष्णायन प्रसिद्ध हुये, वही कृष्णायनों का पूर्वपुरुष था। इस प्रकार अम्बष्ठ, तेरे माता-पिताओं के गोत्र को ख्याल करने से, शाक्य आर्य-पुत्र होते हैं, तू शाक्यों का दासी-पुत्र है।'

पुरानी परम्परायें ऐसा ही कहती थीं। वर्ण-व्यवस्था की कड़ाई कितनी ही रक्खी जाती हो, लेकिन उसका कितनी ही बार उल्लंघन हो जाता था। दासी-पुत्र भी जब अपने गुणों के कारण श्रेष्ठ जाति में स्थान पा गया, तो उसकी सन्तान को कौन वहाँ से हटा सकता था। अम्बष्ठ कृष्णायन था, और उसके गोत्रकर्ता ऋषि कृष्णकी उत्पत्ति दासी से हुई थी। अम्बष्ठ के साथ गये विद्यार्थी मण्डली ने होहल्ला मचाना शुरू किया—अम्बष्ठ तो दासी-पुत्र है। इस पर बुद्ध ने पुरानी परम्परा का अवशिष्ट अंश बतलाते हुये कहा—

'माणवको, तुम अम्बष्ठ माणवक को दासी-पुत्र कह कर बहुत अधिक मत लजवाओ। वह कृष्ण महान् ऋषि थे। उन्होंने दक्षिण-देश में जाकर ब्रह्म (मन्त्र) पढ़ कर, राजा इक्ष्वाकु के पास आ, उससे क्षुद्र-रूपी कन्या को मांगा। राजा इक्ष्वाकु ने—'अरे यह मेरी दासी का पुत्र होकर क्षुद्र-रूपी कन्या मांगता है' सोच, कुपित हो असन्तुष्ट हो, वाण चढ़ाया। लेकिन उस वाण को न वह छोड़ सकता था, न समेट सकता था। तब आमात्य और पार्षद (दर्बारी) कृष्ण ऋषि के पास जाकर बोले—

'भदन्त, राजा का मंगल हो, भदन्त, राजा की स्वस्ति हो।'

'राजा का मंगल होगा, यदि राजा नीचे की ओर वाण (क्षुरप्र) को छोड़े। लेकिन तब जितना राजा का राज्य है, उतनी पृथ्वी विदीर्ण हो जायेगी।'

'भदन्त, राजा का मंगल हो, जनपद (देश) का मंगल हो।'

राजा का मंगल होगा, जनपद का भी मंगल होगा, यदि राजा

इच्छा या मनसा (स्वच्छन्द) है। चन्दा का शब्द भी उसी छन्द से निकला है, जिसका अर्थ है स्वेच्छा पूर्वक दान। विनयपिटक (चुल्लवग्ग ४) अट्ठकथा में बहुमत (यद्भूयसिक) निर्णय का विवरण निम्न प्रकार दिया हुआ है : (बुद्ध ने कहा)—

'अनुज्ञा करता हूँ भिक्षुओ, इस प्रकार के अधिकरण (वाद) का यद्भूयसिकसे उपशमन करना। पांच गुणों से युक्त भिक्षु को शलाका (वोट की शलाका जो बैलट की जगह व्यवहृत होती थी) ग्रहापक (शलाका बांटनेवाला) मानना चाहिये—(१) जो न अपनी रुचि के रास्ते जाये, (२) न द्वेष के रास्ते जाये, (३) न मोह के रास्ते जाये, (४) न भय के रास्ते जाये, (५) न पहिले से पकड़े (आग्रह) रास्ते जाय। ····। यद्भूयसिक क्या है? यह जो बहुमत के अनुसार कर्म का करना, ···· कर्म का स्वीकार करना, इस प्रकार झगड़ा शांत हो जाय। ·····। छन्द-दायक (वोटर, मतदाता) यदि असन्तोष प्रकट करे स्वीयति, तो प्रायश्चित। ····। 'अनुज्ञा करता हूँ, भिक्षुओ, ····· तीन प्रकार के शलाका-ग्रहण (वोटिंग) की—(१) गूढ़क, (२) सकर्ण-जल्पक और (३) विवृतक। भिक्षुओ। गूढ़ शलाकाग्राह कैसे होता है? उस शलाका ग्रहापक भिक्षु को शलाकायें रंगीन, बेरंगीन बनाकर एक-एक भिक्षु के पास जाकर यह कहना चाहिये—'यह ऐसे पक्षवाले की शलाका है, यह ऐसे पक्ष की ० जिसे चाहो, ले लो।' शलाकायें ग्रहण कर लेने पर, बोलना चाहिये— 'किसी को मत दिखलाओ।' इस प्रकार भिक्षुओं, गूढक शलाका-ग्राह होता है। कैसे भिक्षुओ, स-कर्ण-जल्पक शलाका-ग्राह होता है? शलाका-ग्रहापक भिक्षुको जाकर एक एक भिक्षु के कान के पास कहना चाहिये—'यह ऐसे पक्ष की शलाका है, जिसे चाहो ले लो।' ले लेने पर बोलना चाहिये—'किसी को मत बतलाओ।' भिक्षुओ, पिवृतक-शलाका-ग्राह कैसे होता है? विश्वास पूर्वक विवृत (खुली शलाका) ग्रहण कराना।

बुद्ध व्यक्ति से समाज को ऊपर मानते थे, और जहां व्यक्ति और समाज में से एक को चुनना हो, वहां वह समाज ही को प्रधानता देते थे। उनके जीवन की एक घटना है।

(मज्झिम निकाय ३·४·१२)—

"एक समय भगवान् शाक्यों (के देश) में कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार करते थे। महाप्रजापती गौतमी नये दुस्स (धुस्से) के जोड़े को लेकर, जहां भगवान् थे वहां आई। आकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गई। एक ओर बैठी, महाप्रजापती गौतमी ने भगवान् से यों कहा—"भन्ते, यह अपना ही काता अपना ही बुना, मेरा यह नया धुस्सा-जोड़ा भगवान् को अर्पण है। भन्ते, भगवान् कृपा कर, इसे स्वीकार करें।

ऐसा कहने पर भगवान् ने महाप्रजापती गौतमी को कहा—

"गौतमी, इसे संघ को देने से मैं भी पूजित हूँगा, और संघ भी।"

दूसरी बार भी० कहा—'भन्ते यह०" ।......"गौतमी, संघ को दे०।" तीसरी बार भी०।

यह कहने पर आयुष्मान् आनन्द ने भगवान् से कहा—

"भन्ते, भगवान् महाप्रजापती गौतमी के धुस्सा-जोड़े को स्वीकार करें। भन्ते, आप का अभिभाविका, पोषिका, क्षीर-दायिका होने से, भगवान् की मौसी महाप्रजापती गौतमी बहुत उपकार करनेवाली है। इसने जननी के मरने पर भगवान् को दूध पिलाया। भगवान् भी महाप्रजापती गौतमी के महोपकारक हैं। भन्ते, भगवान् के कारण महाप्रजापती० बुद्ध की शरण आई, धर्म की शरण आई, संघ की शरण आई। भगवान् के कारण भन्ते, महाप्रजापती गौतमी प्राणाति-पात हिंसा से विरत हुई। अदत्तादान बिना दिये लेना चोरी से विरत हुई। काम-मिथ्याचार से०। मृषावाद झूठ बोलना से०। सुरा-मेरय कच्ची शराब-मद्य-प्रमादस्थान, प्रमाद करने की जगह से०। भगवान्

के कारण भन्ते, महाप्रजापती गौतमी बुद्ध में अत्यन्त श्रद्धा युक्त, धर्म से अत्यन्त प्रसाद-युक्त, संघ में अत्यन्त प्रसाद-युक्त हुई, आर्य उत्तम कमनीय सुन्दर शीलों से युक्त हुई....।

"आनन्द, यह ऐसा ही है, पुद्गल (व्यक्ति) प्राणी पुद्गल के सहारे बुद्ध का शरणागत होता है, धर्मका०, संघका० । लेकिन, आनन्द, जो यह अभिवादन, प्रत्युपस्थान (सेवा), अंजलि जोड़ना चीवर, पिंड-पात, शयनासन, रोगी को पथ्य-औषध देना है, इसे मैं इस पद्गल का उस पुद्गल के प्रति सुप्रतिकार प्रत्युपकार नहीं कहता ।

पुद्गल (व्यक्ति) से संघ (समाज) को ऊँचा बतलाते हुये बुद्ध ने श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पुद्गल से भी निम्न श्रेणी के व्यक्तियों से बने संघ का दर्जा ऊँचा बतलाया—

'आनन्द, भविष्यकाल में भिक्षु-नाम-धारी काषाय-मात्र-धारी दुःशील, पापी भिक्षु होंगे। लोग संघ के नाम पर उन दुःशीलों को दान देंगे। उस वक्त भी आनन्द, मैं संघ-विषयक दक्षिणा को असंख्य, अपरिमित फलवाली कहता हूँ। आनन्द, किसी तरह भी संघ-विषयक दक्षिणा से व्यक्तिगत दक्षिणा को अधिक फलदायक मैं नहीं मानता ।'

बुद्ध के ये विचार स्पष्ट कर देते हैं, कि वह एकतन्त्रता या राजतन्त्र को नहीं, बल्कि गणतन्त्र को पसन्द करते थे । जहाँ तक संघ का सम्बन्ध है, उसमें वह आर्थिक साम्यवाद को भी प्रचलित करना चाहते थे, और भिक्षु-भिक्षुणियों के लिये वैसे ही नियम भी बनाये, जिनके अनुसार शरीर पर के कपड़े और अस्तुरा, सुई, जलपात्र जैसी तीन-चार चीजें ही पुद्गलिक (वैयक्तिक) हो सकती थीं, बाकी सारी सम्पत्ति संघ की मानी जाती थी। पर, यह आर्थिक साम्यवाद अधिक दिनों तक चल नहीं सका । इस आर्थिक साम्यवाद के ध्वंस का आरम्भ

भी वैशाली ही से हुआ, जिसके लिये यहीं पर दूसरी संगीत (बौद्ध महा परिषद्) हुई।

वैशालीगण की न्याय-प्रणाली भी आदर्श थी। महापरिनिर्वाणसूत्र (दीघनिकाय २. ३.) की अट्ठकथा से मालूम होता है, कि पुराने वज्जि-धर्म (वैशाली-कानून) में किसी मामले का फैसला बहुत छान-बीन के साथ किया जाता था—'वज्जि राजा लोग 'यह चोर है—अपराधी है' कहकर दिखलाने पर, 'इस चोर को बाँधो' न कह, विनिश्चिय-महामात्य (न्यायाधीश) को देते हैं। वह विचार कर न चोर होने पर छोड़ देते, यदि चोर होता, अपने कुछ न कह कर, 'व्यवहारिक' को दे देते। वह भी विचार कर अचोर होने पर छोड़ देते, यदि चोर होता, तो 'सूत्रधार' को दे देते। वह भी वैसा ही कर सेनापति को, सेनापति उपराज को, उपराज राजा (राष्ट्रपति) को, राजा विचार कर यदि अचोर होता, तो छोड़ देता, यदि चोर होता, तो प्रवेणी-पुस्तक (कानूनी-किताब) बँचवाता। उसमें—'जिसने यह किया उसको ऐसा दण्ड हो' लिखा रहता। राजा उसके काम को उससे मिलाकर, उसके तदनुसार दण्ड करता।'......

बुद्ध वैशाली के गणतन्त्रियों में सात गुण पाते थे, जिनके कारण वह उन्हें अजेय मानते थे। मगध का अजातशत्रु अनेक बार वैशाली वालों पर आक्रमण करके असफल रहा। इसपर उसने अपने मन्त्री वर्षकार को यह जानने के लिये बुद्ध के पास भेजा, कि वैशाली के लिच्छवि क्यों अजेय हैं। वर्षकार बुद्ध के पास जाकर बोला राजा कहता है 'मैं इन वैभवशाली वज्जियों को उच्छिन्न करूँगा, वज्जियों का विनाश करूँगा, उनपर आफत ढाऊँगा।' बुद्ध वज्जियों के सम्बन्ध में ऐसे शब्द सुनने के लिये तैयार नहीं थे, उन्होंने अपनी अरुचि प्रकट करते हुये वर्षकार की ओर से मुंह फेर कर आनन्द को सम्बोधित करते कहा—

"(१) आनन्द, जब तक वज्जी बैठक में इकट्ठा होनेवाले रहेंगे-सन्निपात-बहुल रहेंगे, तब तक आनन्द, वज्जियों की वृद्धि ही समझना, हानि नहीं।

(२) क्या आनन्द, तूने सुना है, वज्जी एक हो 'बैठक करते हैं, एक हो उत्थान करते हैं, वज्जी एक हो करणीय (कर्त्तव्य) को करते हैं?"

"सुना है, भन्ते।०।" "आनन्द, जब तक०।

(३) क्या ० सुना है, वज्जी अ-प्रज्ञप्त (गैरकानूनी) को प्रज्ञप्त (विहित) नहीं करते, प्रज्ञप्त (विहित) का उच्छेद नहीं करते। जैसे प्रज्ञप्त है, वैसे ही पुराने वज्जि-धर्म (वज्जि कानून) को ग्रहण कर बर्ताव करते हैं?"

"भन्ते, मैंने यह सुना है।" "आनन्द०। जब तक कि०।

(४) क्या आनन्द, तूने सुना है—वज्जियों के जो महल्लक (बुजुर्ग) हैं, उनका वह सत्कार करते हैं, मानते हैं, पूजते हैं, उनकी बात सुनने योग्य मानते हैं।'

"भन्ते, सुना है ०।" "आनन्द, जब तक कि०।

(५) क्या सुना है—जो वह कुल-स्त्रियां हैं कुल-कुमारियां हैं, उन्हें वह छीनकर, जबर्दस्ती नहीं बसाते?"

'भन्ते, सुना है०।" "आनन्द, ०जब तक०।

(६) क्या० सुना है—वज्जियों के नगर के भीतर या बाहर के जो चैत्य (चौरा, देवस्थान) हैं, उनका सत्कार करते हैं, ० पूजते हैं। उनके लिये पहिले किये गये दान का, पहिले की गई धर्मानुसार बलि (वृत्ति) का, लोप नहीं करते?

"भन्ते, सुना है।" "जब तक०।

(७) क्या सुना है,—वज्जी लोग अर्हतों (सन्त महात्माओं) की अच्छी तरह धर्मानुसार रक्षा, गुप्ति करते हैं। किसलिये ? भविष्य के अर्हत् राज्य में आवें, आये अर्हत् राज्य में सुख से विहार करें।

"सुना है भन्ते।०।"

किसी भी गणराज्य के अजेय होने के लिये यही सात बातें आवश्यक हैं—(१) राष्ट्रचालक संसद् (पार्लियामेंट), सन्निपात बहुल हो अर्थात् लोग बार बार एकत्रित होकर कामका निर्णय करें, (२) एक साथ मिल कर मीटिंग करें और काम में लगें, (३) कानून का उल्लंघन न करें, (४) बुजुर्गों का सम्मान करें, उनकी बात सुनें, (५) स्त्रियों पर जबर्दस्ती न करें, (६) धर्म धार्मिक भावों का लोगों के ख्याल रक्खें, और (७) सत्पुरुषों की रक्षा का प्रबन्ध करें।

वैशालीका एक और महत्व यह है, कि भिक्षुणी-संघ की स्थापना यहीं पर हुई थी। यहीं पर बुद्ध की मौसी महाप्रजापती गौतमी कपिल-वस्तु में इन्कार करने से निराश न होकर पैदल चलकर आई थीं'। उस समय भगवान् वैशाली में महावन की कूटागार शाला में रहते थे। गौतमी दूसरी शाक्य स्त्रियों के साथ केशों को कटा काषाय वस्त्र पहन कर यहां पहुँची थीं। "फूले पैरों, धूल भरे शरीर से दुःखी रोती फाटक के बाहर गौतमी खड़ी थीं। आनन्द ने देखकर पूछा और यह जान कर कि भगवान् स्त्रियों को भिक्षुणीं बनाने से इन्कार कर चुके हैं, गौतमी को सान्त्वना देते हुये कहा (विनयपिटक चुल्लवग्ग ११.)—

"गौतमी, तू यहीं रह०। स्त्रियों की प्रव्रज्या के लिये मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ।

आयुष्मान् आनन्द जहां भगवान् थे, वहां गये। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर० बैठ, भगवान् से बोले—

'भन्ते, महाप्रजापती गौतमी फूले पैरों धूल भरे शरीर से दुःखी, दुर्मना, अश्रुमुख रोती हुई फाटक के बाहर खड़ी है कि—भगवान्.... (उसे) बुद्ध-धर्म में....० प्रव्रज्या मिले।'

'नहीं आनन्द, मत तुझे यह रुचे।'

दूसरी बार भी आयुष्मान् आनन्द०। तीसरी बार भी० बोले।

तब आयुष्मान् आनन्द को हुआ—भगवान् स्त्रियों को घर से बेघर हो प्रव्रज्या की अनुज्ञा नहीं देते, क्यों न मैं दूसरे प्रकार से० प्रव्रज्या की अनुज्ञा मागूं। तब आयुष्मान् आनन्द ने भगवान् से कहा—

'भन्ते, क्या तथागत के धर्म में घर से बेघर प्रव्रजित हो, स्त्रियां स्रोत-आपत्तिफल, सकृदगामि-फल, अनागामि-फल, अर्हत्व-फल को साक्षात् कर सकती हैं?

'साक्षात् कर सकती हैं, आनन्द,।'

'यदि भन्ते, अर्हत्व-फल को साक्षात् करने योग्य हैं। तो भन्ते, अभिभाविका, पोषिका, क्षीरदायिका हो भगवान् की मौसी महाप्रजापती गौतमी बहुत उपकार करनेवाली है। जननी के मरने पर उसने भगवान् को दूध पिलाया। भन्ते, अच्छा हो स्त्रियों को० प्रव्रज्या मिले।'

'आनन्द, यदि महाप्रजापती गौतमी आठ गुरु-धर्मों (बड़ी शर्तों) को स्वीकार करे, तो....

(१) सौ वर्ष की उप-सम्पन्न (उपसंपदा पाई) भिक्षुणी को भी उसी दिन के उपसम्पन्न भिक्षु के लिये अभिवादन, प्रत्युत्थान, अंजलि जोड़ना करना चाहिये। इसे धर्म सत्कार-पूर्वक गौरवपूर्वक मानकर, पूजकर जीवन भर न अतिक्रमण करना चाहिये।

(२) भिक्षु के पास धर्म श्रवणार्थ जाना चाहिये। यह भी०।

(३) प्रति आधेमास भिक्षुणी को भिक्षु-संघ से चाहिये। यह०।

(४) वर्षावास कर चुकने पर भिक्षुणी को दोनों संघों में देखे, सुने, जाने तीनों स्थानों से प्रवारणा (क्षमा याचना) करनी चाहिये।

(५) गुरु-धर्म स्वीकार किये भिक्षुणी को (भिक्षु-भिक्षुणी) दोनों संघों को मानना चाहिये ०।

(६) किसी प्रकार भी भिक्षुणी गाली आदि न बके। यह भी ०।

(७) आनन्द, आज से भिक्षुणियों का भिक्षुओं को (कुछ) कहने का रास्ता बन्द हुआ ०।

(८) लेकिन भिक्षुओं का भिक्षुणियों को कहने का रास्ता खुला है। यह ०

यदि आनन्द, महाप्रजापती गौतमी इनआठ गुरु-धर्मों को स्वीकार करे, तो उसकी उपसम्पदा होवे।'

तब आयुष्मान् आनन्द भगवान् के पास, इन आठ गुरु-धर्मों को समझ उद्ग्रहण कर जहां महाप्रजापती गौतमी थी, वहां गये। जाकर महाप्रजापती गौतमी से बोले—

'यदि गौतमी, तू इन आठ गुरु-धर्मों को स्वीकार करे, तो तेरी उपसम्पदा होगी—(१) सौ वर्ष की सपसम्पन्न ० ८ ०।

'भन्ते, आनन्द, जैसे शौकीन शिरसे नहाये अल्प-वयस्क, तरुण स्त्री या पुरुष उत्पलकी माला, जूही की माला, या मोतिया की माला को पा, दोनों हाथों में ले, उसे उत्तम-अंग शिरपर रखे, ऐसे ही भन्ते, मैं इन आठ गुरु-धर्मों को स्वीकार करती हूँ।

बुद्ध के जनवाद और आदर्शवाद की वैशाली एक मधुर प्रतीक थी, इसीलिये अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने वैशाली और वहां के रमणीय स्थानों का स्मरण बड़े ही मधुर शब्दों में (महा परिनिर्वाण सूत्र दीघनिकाय २. ३.) में आनन्दको संबोधित करते कहा----'आनन्द, रमणीय है वैशाली। रमणीय है उदयन-चैत्य।

१. शील

शील का अर्थ है आचार, अर्थात् आचार-शास्त्रीय सिद्धान्त शील स्कन्ध के भीतर आते हैं। शील पर बुद्ध का बहुत जोर है। इसी के कारण कितने ही लोग यह समझने की गलती करते हैं, कि बुद्ध ने केवल शील (आचार) का ही उपदेश दिया था। शील के बिना बड़े-बड़े सिद्धान्तों का बघारना निरा ढोंग है। शील है जीवन और अपने कर्मों द्वारा व्यक्ति और समाज को ऊपर उठाने का तरीका। शील हो, समाधि हो या प्रज्ञा, हरेक में बुद्ध अति में जाने को वर्जित करते हैं, और मध्यम-मार्ग (मध्यमा प्रतिपद्) के अपनाने पर जोर देते हैं। बुद्ध ने अपना सबसे पहला उपदेश सारनाथ (ऋषिपतन) में दिया था, जिसे धर्मचक्र-प्रवर्तन—धर्म के चक्कर का चलाना कहते हैं। चक्रवर्ती राजा अपनी दिग्विजय के लिये दूसरी तरह का चक्र इस्तेमाल करते हैं। बुद्ध ने धर्म के चक्र को इस्तेमाल किया था और उनकी विजय ज्यादा व्यापक और चिरस्थायी रही, इसे कहने की अवश्यकता नहीं। धर्मचक्र-प्रवर्तन सूत्र में बुद्ध ने अपने सबसे पहले पाँच भिक्षु शिष्यों से मध्यम-मार्ग के बारे में कहा था—

'भिक्षुओं! इन दो अन्तों (अतियों) का सेवन प्रव्रजितों को नहीं करना चाहिये। कौन से दो? (१) जो यह हीन, ग्राम्य, पृथग्जन (भूले मनुष्यों) के योग्य, अनार्य-सेवित, अनर्थों से युक्त, कामवासनाओं में काम-सुख-लिप्त होना है, (२) जो दुःख (मय) अनार्य (सेवित) अनर्थों से युक्त कायक्लेश (आत्म-पीड़ा) में लगना है। भिक्षुओं! इन दोनों ही अन्तों (अतियों) में न जाकर, तथागत ने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है, जो कि आँख देनेवाला, ज्ञान-करानेवाला, उपशम (शांति) के लिये, अभिज्ञ होने के लिये, सम्बोध (परिपूर्णज्ञान) के लिये, निर्वाण के लिये है। वह कौन सा मध्यम-मार्ग (मध्यम-प्रतिपद्) तथागत ने खोज निकाला है? वह यही आर्य-अष्टांगिक मार्ग है, जैसे

कि—सम्यक् (ठीक) दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वचन, सम्यक्-कर्म, सम्यक्-जीविका, सम्यक्-व्यायाम (प्रयत्न, परिश्रम), सम्यक्-स्मृति, सम्यक्-समाधि। —(संयुक्त निकाय ५५।२।१)

बुद्ध ने शील (आचार) के पांच नियमों को सबके लिये बतलाया भिक्षुओं के लिये दस शील बतलाये हैं। पंचशील हैं—(१) हिंसा न करना, (२) चोरी न करना, (३) यौन-दुराचार से विरत होना, (४) झूठ न बोलना और (५) नशीली चीजों का सेवन न करना। अपने एक उपदेश (श्रामण्यफल-सूत्र, दीर्घनिकाय १।१।२) में शील की बहुत सुन्दर और सरल शब्दों में व्याख्या की है—

"लोक में तथागत अर्हत् उत्पन्न होते हैं। वह धर्म उपदेश करते हैं। (कोई) उसे सुनकर प्रव्रजित होता है। शिक्षा-पदों को सीखता है। परिशुद्ध-आजीविका वाला, शील-संपन्न, इन्द्रियों में गुप्त-द्वार, भोजन में मात्रा जानने वाला, संतुष्ट हो विचारता है। भिक्षु कैसे शील-संपन्न होता है? वह प्राणातिपात (प्राण-हिंसा) छोड़ प्राणातिपात से विरत होता है, (त्यक्त-दंड, त्यक्तशस्त्र, लज्जालु, दयालु सर्व-प्राणि-भूत-अनुकंपक हो विहरता है। यह भी उसके शील में है। अदत्तादान छोड़ अदत्तादान (चोरी) से विरत होता है, दत्त-आदायी, दत्त-प्रतिकांक्षी होता है। इस तरह शुद्ध-भूत आत्मा से विहार करता है। यह भी उसके शील में है। अब्रह्मचर्य को छोड़कर ब्रह्मचारी होता है, एकांत-चारी, मैथुन-ग्राम्यधर्म से विरत। यह भी०। मृषावाद (झूठ) को छोड़कर मृषावाद-विरत होता है, सत्यवादी-सत्यसंध, स्थाता, बात पर ठहरने वाला, लोक का (विश्वासपात्र) अविसंवादक होता है। यह भी०। पिशुनवचन (चुगली) को छोड़ पिशुन-वचन से विरत०। यह भी०। परुषवचन को छोड़०। संप्रलाप (बकवास) छोड़०, संप्रलाप से विरत होता है, काल-वादी भूत-वादी, अर्थ-वादी,

धर्म-वादी, विनय-वादी होता है। काल से सप्रयोजन-पर्यन्तवती सार्थक निधानवाली वाणी का बोलनेवाला होता है। यह भी०। बीज-ग्राम, भूत-ग्राम के नाश (हत्या) से विरत होता है। एकाहारी रात को भोजन से विरत, विकाल भोजन से विरत होता है, नृत्य, गीत, वाद्य, तमाशे से विरत होता है। माला गंध, विलेपन के धारण, मंडन विभूषण......से विरत होता है। उच्चशयन, महाशयन से विरत होता है। सोना चांदी के स्वीकार से विरत होता है। कच्चा अन्न ग्रहण करने से विरत होता है। स्त्री-कुमारिका के०। दासी-दास के ग्रहण से०। भेड़-बकरी के ग्रहण से०। मुर्गी-सुअर के०। हाथी-गाय, घोड़ा-घोड़ी के०। खेत, मकान के०। दूत के काम से०। क्रय-विक्रय से०। तुला-कूट (खोटी तौल) कंस-कूट (खोटी धातु), प्रमाण-कूट (खोटी-नाप) से०। उक्कोटक (रिश्वत), वंचना, निकृति (कृतघ्नता) साचि-योग से०। छेदन, बध, बन्धन, लूट आलोप (छापा), सहसा (कार खून आदि) से०, यह भी।'

इन आचार-नियमों में कुछ केवल भिक्षु-भिक्षुणियों के लिये ही हैं, यह आसानी से समझा जा सकता है। बुद्ध ने इन्द्रियों पर संयम रखने को भी जोर दिया है। इन्द्रिय संयम से मतलब है मन-वचन और कर्म पर संयम रखना। इन्हें संक्षेप में कहा गया है :

सर्व पापस्य अकरणं कुशलस्योपसंपदा।
स्वचित्तपर्यवदपनं एतद् बुद्धानुशासन।
(सारे पापों का न करना पुण्यों का संग्रह करना।
अपने चित्त को शुद्ध रखना, यह बुद्ध का उपदेश है।)

दुनिया में भला या बुरा काम, पुण्य या पाप, क्या है? ईश्वर और ईश्वरीय पुस्तक के माननेवालों के लिये यह कोई कठिन प्रश्न नहीं था। वह कह सकते थे, कि ईश्वर और ईश्वरीय ग्रंथ में जिस बात को

विहित बतलाया गया है, पुण्य का माना गया है, उसे ही पुण्य कर्म समझना चाहिये। जिसका निषेध किया गया है, वह पाप है। बुद्ध न ईश्वर को मानते थे, न ईश्वर की बनाई किसी पुस्तक ही को। अपने वचन को भी वह ईश्वरी पुस्तकों का दर्जा नहीं देते थे। इसीलिये उन्होंने अपने उपदेशों को भी बुद्धि और अनुभव के अनुकूल होने पर ही मानने के लिये कहा। उन्होंने इसके लिये एक बड़ी अच्छी कसौटी बतलाई। वह थी 'बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय' संसार में विचरण करना। सारनाथ में आषाढ़ पूर्णिमा को धर्मचक्र-प्रवर्तन करके पहली वर्षा उन्होंने यहीं बिताई थी। वर्षा के समाप्त होने पर उन्होंने विचरण करने के लिये निकलने से पहले अपने शिष्यों को कहा था—'भिक्षुओं, बहुजन हिताय, बहुजन-सुखाय लोक पर दया करने के लिये देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये सुख के लिये चारिका करो। एक साथ दो मत जाओ।' यही बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय उनके लिये पुण्य की कसौटी थी। जो बहुजन-अहिताय बहुजन-असुखाय हो, वह पाप था। यह कसौटी इतनी स्पष्ट है, कि व्याख्या की जरूरत नहीं रखती।

बुद्ध मनुष्य की सीमाओं को समझते थे और यह जानते थे कि आदमी नियमों का पालन तभी कर सकता है जब कि वह उसके जीवन-यात्रा में श्वासरोध का काम न करे। इसीलिये उन्होंने देश में सुख-शान्ति स्थापित करने के लिये दण्ड को उतना महत्व नहीं दिया, जितना कि हरेक के लिये अत्यावश्यंक अनिवार्य अवश्यकताओं की गारंटी होने को। इसका चित्र उन्होंने एक पुरानी कथा के रूप में खींचा है (कुटदन्त-सुत्त, दीघनिकाय १।५)।

'पूर्व-काल में ब्राह्मण! महाधनी, महाभोगवान्, बहुत-सोना-चाँदी वाला, बहुत-वित्त-उपकरण (साधन) वाला, बहुधन धान्यवान् भरे-कोश-कोष्ठागारवाला, महाविजित नामक राजा था। ब्राह्मण! उस राजा महाविजित को एकान्त में विचारते चित्त में यह ख्याल उत्पन्न हुआ—

'मुझे मनुष्यों के विपुल भोग मिले हैं, मैं महान् पृथिवी-मंडल को जीतकर शासन करता हूँ! क्यों न मैं महायज्ञ करूँ जो कि चिरकाल तक मेरे हित-सुख के लिये हो।' तब ब्राह्मण! राजा महाविजित ने पुरोहित ब्राह्मण को बुलाकर कहा—ब्राह्मण! एकान्त में बैठ विचारते, मेरे चित्त में यह ख्याल उत्पन्न हुआ—०क्यों न मैं महायज्ञ क ँ०। ब्राह्मण! मैं महायज्ञ करना चाहता हूँ। आप मुझे अनुशासन करें, जो चिरकाल तक मेरे हित-सुख के लिये हो।' ऐसा कहने पर.........पुरोहित ब्राह्मण ने राजा महाविजित से कहा—'आप का देश सकंटक, उत्पीड़ा-सहित है—राज्य में ग्राम-घात (ग्रामों की लूट) भी दिखाई पड़ते हैं, बटमारी भी देखी जाती है। आप .. ऐसे सकंटक उत्पीड़ा-सहित जनपद से बलि (कर) लेते हैं। इससे आप इस (देश) के अकृत्य-कारी हैं। शायद आप.....का (विचार) हो, दस्यु-कील को हम बध, बंधन, हानि, निर्वासन से उखाड़ देंगे। लेकिन इस दस्यु-कील (लूट-पाट रूपी कील) को, इस प्रकार अच्छी तरह नहीं उखाड़ा जा सकता। जो मारने से बच रहेंगे, वह पीछे राजा के जनपद को सतायेंगे। यह दस्युकील इस उपाय से भली प्रकार उन्मूलन हो सकता है: जो कोई आपके जनपद में कृषि-गोपालन करने का उत्साह रखते हैं, उनको आप बीज और भोजन सम्पादित करें। जो वाणिज्य करने का उत्साह रखते हैं, उन्हें आप....पूंजी (प्राभृत) दें। जो राज-पुरुषाई, (राजा की नौकरी) करने का उत्साह रखते हैं, उन्हें आप भत्ता-वेतन (भत्त-वेतन) दें। इस प्रकार वह लोग अपने काम में लगेंगे, राजा के जनपद को नहीं सतायेंगे। आपको महान् (धन्-धान्य की) राशि प्राप्त होगी, जनपद (देश) भी पीड़ा-रहित, कंटक-रहित, क्षेम-युक्त होगा। मनुष्य भी गोद में पुत्रों को नचाते से, खुले घर विहार करेंगे। राजा महाविजित ने पुरोहित ब्राह्मण को 'अच्छा भो ब्राह्मण!' कह, जो राजा के जनपद में कृषि-गोरक्षा में उत्साही थे, उन्हें राजा ने बीज-भत्ता संपादित किया।

जो राजा के जनपद में वाणिज्य में उत्साही थे, उन्हें पूंजी सम्पादित की। जो राजा के जनपद में राज-पुरुषाई में उत्साही थे, उनका भत्ता-वेतन ठीक कर दिया। उन मनुष्यों ने अपने-अपने काम में लग, राजा के जनपद को नहीं सताया। राजा को महाराशि मिली। जनपद अकंटक अपीड़ित क्षेम-स्थित हो गया। मनुष्य हर्षित, मोदित, गोद में पुत्रों को नचाते से खुले घर विहार करने लगे।'

२. समाधि

अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक शंकर ने बुद्ध को 'योगिनां चक्रवर्ती' कहा है। बुद्ध की महिमा एक महान् योगी की तरह उनके समय में ही बहुत प्रसिद्ध थी। योग-ध्यान के बारे में बुद्ध ने बहुत से उपदेशों में कहा है, और पीछे भी सभी बौद्ध देशों में योगियों और योग की बड़ी चर्चा रही। पालि में तो 'विसुद्धिमग्ग' नाम का एक बड़ा ग्रंथ ही इसके ऊपर लिखा गया है। हर समय ऐसे अरण्यवासी (आरण्यक) भिक्षु रहते रहे हैं, जो अपना जीवन ध्यान-अभ्यास ही में बिताते थे। ध्यान मुख्यतः चार माने गये हैं, जो चित्त की भिन्न-भिन्न भूमियां या स्थितियां हैं, जिन में मनको रखने की कोशिश की जाती है। इन ध्यानों को क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान कहा जाता है। हर एक ध्यान की यह साधारण विशेषता है, कि उसमें चित्त का सम्बन्ध बाहर के विषयों से हट जाये, मन एकाग्र हो जाये। पहले ध्यान में मन में वितर्क और विचार होते हैं। बल्कि उन्हीं की एकाग्रता से एक तरह की प्रीति और सुख मिलता है। द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार बन्द हो जाते हैं, भीतर शान्ति, चित्त की एकाग्रता स्थापित हो जाती है। यह स्थिति भी प्रीति और सुखवाली होती है। तृतीय ध्यान में चित्त प्रीति से भी विरक्त और उपेक्षक हो जाता है, तो भी उसकी स्मृति रहती है, अनुभूति नष्ट नहीं होती। वह काया से एक प्रकार के सुख का अनुभव करता

है। चतुर्थ ध्यान में मन सुख और दु:ख से विमुख हो सौमनस्य चित्तोल्लास और चित्तों के संताप से परे हो सुख-दु:ख-रहित हो जाता है। यह स्मृति की परिशुद्धता का ध्यान है। इस ध्यान में पहुँच कर चित्त समाधि-प्राप्त परिशुद्ध होने से मल-रहित मृदु और स्थिर हो जाता है।

ये ध्यान योग की सर्वोच्च भूमियाँ हैं। इनके अतिरिक्त और दूसरी योगिक भावनाओं का भी वर्णन आता है, और योग के प्रेमियों को उससे बहुत लाभ होता है। वस्तुत: समाधि की क्रियायें ऐसी हैं, जो अभ्यास से सम्बन्ध रखती हैं, और उनका अर्थ भी तभी स्पष्ट होता है।

३. प्रज्ञा

प्रज्ञा से अभिप्राय है दर्शन या गम्भीर ज्ञान। बुद्ध, और सभी कालों और देशों के बौद्ध विचारक भी, प्रज्ञा पर सबसे अधिक जोर देते रहे हैं। इसलिये जो लोग बुद्ध को केवल आचार और नीति का प्रचारक बतलाना चाहते हैं, वह वास्तविकता से कितनी दूर हैं, यह कहने की जरूरत नहीं। बुद्ध के प्राय: सात शताब्दियों बाद पैदा होने वाले महान् विचारक नागार्जुन ने उनके प्रतीत्यसमुत्पाद् और मध्यमा प्रतिपद् पर विचार करके ही शाक्य-मुनि को अप्रतिम सम्बुद्ध कहा है।

प्रतीत्य समुत्पाद्—प्रतीत्य-समुत्पाद् के अर्थ को साफ करते हुये बुद्ध ने स्वयं कहा है—'इसके बाद यह होता है' (अस्मिन् सति इदं भवति); जो वस्तुत: बिना अपवाद के सभी वस्तुयें अनित्य हैं, इसी मौलिक सिद्धान्त की व्याख्या है। बुद्ध और बौद्ध अनित्य-वादी हैं। वह किसी चीज का वास्तविक होना स्वीकार नहीं कर सकते, जब तक कि वह अनित्य न बतलाई जाय। पीछे के आचार्य

ने इसे और साफ करते हुये कहा—'यत् सत् तत् क्षणिकं (जो वास्तविक है, वह क्षणिक है)। बाहरी वस्तुओं को सभी अनित्य और क्षणिक मानने के लिये तैयार थे। लेकिन बुद्ध ने बाहरी स्थूल जगत् को ही क्षणिक नहीं बतलाया, बल्कि आन्तरिक सूक्ष्म जगत पर भी इस निरपवाद नियम को लागू कहा। बुद्ध से थोड़े ही दिनों पहले उपनिषद् के विचारकों का समय बीता था। प्रवाहण, उद्दालक, याज्ञवल्क्य जैसे उपनिषद् के महान् ऋषियों ने बहुत प्रयत्न करके इस बात को मानने के लिये लोगों को तैयार किया था, कि क्षण-क्षण परिवर्तनशील ग्राह्य जगत् के भीतर नित्य, कूटस्थ, अविचाली एक सूक्ष्म वस्तु (तत्त्व) है। इस तत्वको उन्होंने आत्मा की संज्ञा दी, और उसी नित्य निर्विकार आत्मा को पाना जीवन का सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य माना। उपनिषद् के इस आत्मवाद (ब्रह्मवाद) के भक्तों की आज भी देश में कमी नहीं है। देश में ही क्यों, देश के बाहर भी इस आत्मवाद, ब्रह्मवाद के प्रतिपादक वेदान्त के मानने वाले मिलेंगे। सचमुच ही यह बड़े परिश्रम और तपस्याका फल था, जिसे बुद्ध ने अपने अनित्यतावाद द्वारा एक फूंक में उड़ा देना चाहा। उपनिषद् के आत्मवाद के ऊपर खास तौर से बुद्ध प्रहार करना चाहते थे, यह इससे भी मालूम है, कि उन्होंने अपने सिद्धान्त को अनात्म (अनत्ता) वाद कहा। वेदान्त ने सत्-चित्-आनन्द की घोषणा की और बुद्ध ने असत्, अचित् अनानन्द की ! हां, शब्द-भेद से उन्होंने इसके लिये अनित्य, दु:ख और अनात्म शब्द का व्यवहार किया। सत् वेदान्त में नित्य के लिये कहा गया, चित् आत्मा के लिये और आनन्द का अर्थ है दु:ख का अभाव। इससे साफ ही है, कि बुद्ध उपनिषद् के मूल सिद्धान्तों के विरोधी थे। यह आश्चर्य की बात है, कि आजकल कितने ही लेखक इसके बारे में समन्वय करने की कोशिश करते बुद्ध को भी उपनिषद् के सिद्धान्तों का प्रतिपादक बतलाना चाहते हैं।

अनित्यावाद या क्षणिकवाद बुद्ध के दर्शन की आधार-शिला है। उनका यह सिद्धान्त भारत के सबसे प्रौढ़ और प्रगतिशील दर्शन का प्रेरणा-स्रोत भी है। इस सिद्धान्त को मान लेने पर एक तरफ आदमी ईश्वर और आत्मा के बन्धन से छूट जाता है, दूसरी तरफ वह नियति के फन्दे से भी मुक्त हो जाता है। संसार में कोई चीज दो क्षण भी नहीं रह सकती। पैदा होने के साथ वह अपनी मृत्यु को अपने साथ लाती है। इस सत्य को समझाकर एक ओर बुद्ध प्रियों के वियोग और अप्रियों के संयोग से होने वाली चिन्ता को भी अस्थायी मानकर छोड़ने के लिए कहते हैं। दूसरी ओर इस परिवर्तनशीलता से मानव के लिये अनुकूल परिवर्तन की संभावना है, वह उसके लिए उद्योग परायण हो सकता है,

क्षणिकवाद के अनुसार कारण क्षणिक है। जिस समय कार्य पैदा होता है, उस समय से पहले उसका कारण सर्वथा विलुप्त हो गया रहता है। इस विचार के अनुसार कार्य और कारण का क्या संबंध है, इसी बात को बतलाने के लिए बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद् के नाम से नई परिभाषा गढ़ी, अर्थात एक के प्रतीत्य (नष्ट) होने पर दूसरे का उत्पाद (उत्पत्ति) होती है। कारण नष्ट हो जाने पर कार्य की उत्पत्ति होती है। इन दोनों का सम्बन्ध यही है, कि 'इसके बाद यह होता है" कारण के बाद कार्य उत्पन्न होता है। बीज नष्ट होकर वृक्ष उत्पन्न होता है, इस बात को मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, लेकिन बुद्ध परिवर्तन को इतने स्थूल रूप में नहीं देखते। बाहरी परिवर्तन को हम आँखों से देख लेते हैं, वह बहुत ही स्थूल परिवर्तन है। वह इस स्थूल-परिवर्तन को भी लाखों सूक्ष्म परिवर्तन का आभास बतलाना चाहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य हर क्षण मर रहा है, और हर क्षण पहली की जगह एक दूसरा बिल्कुल नया व्यक्ति प्रकट हो रहा है। परिवर्तन इतनी तेजी से होता है, कि उसके काल को हम पकड़ नहीं सकते। पर, हरेक परिवर्तन में पहले का सादृश्य

प्रवाहरूपेण चलता रहता है, जो भ्रम पैदा कर देता है—यह वही वस्तु है। मनुष्य बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य जैसे परिवर्तनों में ही नहीं पड़ता, बल्कि हर क्षण वह मरता है, और दूसरा उसी के समान उस स्थान पर आता है। इस तरह के सिद्धान्त द्वारा बुद्ध ने अपने समय के आत्मवादी विचारकों में कितनी खलबली मचाई होगी, इसे कहने की अवश्यकता नहीं।

वह चेतना को मानते हैं, और चेतना तथा चेतन को एक कहने पर इनकार नहीं करते। उनके दर्शन में इस तरह के गुण-गुणी के भेद के लिये स्थान नहीं है। तत्त्वों का वर्गीकरण करते हुये वह उन्हें पाँच स्कन्धों में बाँटते हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, जिन्हें बौद्ध परिभाषा में पंचस्कन्ध कहा जाता है। इन पाँचों स्कन्धों में वस्तुत: रूप और विज्ञान मुख्य हैं, बाकी तीन रूप और विज्ञान के सम्पर्क की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ या क्रियायें हैं। स्थिति और क्रिया में वह कोई अन्तर नहीं मानते, क्योंकि कोई ऐसी स्थिति नहीं हो सकती, जिसमें क्रिया न हो। नाश और उत्पत्ति का चक्कर तो किसी क्षण भी नहीं रुकता। रूप है भौतिक तत्व और विज्ञान है चेतना। वास्तविकता के ये दो रूप हैं। यह दोनों क्षण-क्षण परिवर्तनशील हैं। वास्तविकता देश-काल में बहती हुई नदी की धारा है। ऐसी नदी है, जिसमें दो क्षण भी एक ही जगह अवगाहन नहीं किया जा सकता।

रूप और विज्ञान दोनों की क्षणिक सत्ता को वास्तविक मानते हुए बुद्ध को द्वैतवादी कहा जा सकता है। पर जिस रूप में अति सूक्ष्म परिवर्तन को वस्तु के अन्तस्तल में वह मानते हैं, उसके कारण दोनों का भेद नहीं रह जाता। इसी कारण पीछे बौद्ध-दर्शन में द्वैत और अद्वैत का भेद हो गया। सर्वास्तिवादी दोनों के अस्तित्व को मानने वाले थे। सौत्रांतिक बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को मुख्य मानते थे। विज्ञानवादी योगाचार अन्तस्तत्व या विज्ञान को ही मुख्य

तत्व मानते थे, और शून्यवादी माध्यमिक दोनों के अस्तित्व को सापेक्ष मानकर उनकी परमार्थ सत्ता से इनकार करते थे। यह बौद्ध-धर्म के पीछे का विकास है। पर, चारों दर्शनों का अंकुर बुद्ध के विचारों में मिलता है।

मध्यमा प्रतिपद्—मध्य-मार्ग पर बुद्ध का हमेशा जोर था। कर्म में भी वह अतिका रास्ता छोड़कर मध्यका रास्ता स्वीकार करते शरीर के अत्यन्त सुखाने को भी वह अच्छा नहीं समझते, और न शरीर को ही सब कुछ समझ कर उसकी पूजा में रत रहने को पसन्द करते। यहां वह जिस तरह मध्य-मार्ग को स्वीकार करने की बात कहते हैं, वैसे ही दर्शन में भी वह मध्यमा प्रतिपद् को मानते हैं। एक तरफ वह जड़वाद को नहीं स्वीकार करते। उनके समय जड़-वादी विचारधारा भारत में थी, जिसके सामने जड़ वस्तुओं या महा-भूतों से भिन्न कोई दूसरी वास्तविक वस्तु नहीं थी। जड़ वस्तुओं में ही चेतना उत्पन्न हो जाती है, जैसे गुड़ या दूसरी चीजों में मद्यरस। दूसरी तरफ ब्रह्मवादी लोग थे, जो जड़ की सत्ता को चेतन से अद्भूत मानते थे। एक आत्मवाद का रास्ता था, दूसरा जड़वाद का रास्ता। बुद्ध ने आत्मवाद से साफ इनकार किया। दूसरी तरफ उन्होंने जड़वाद को स्वीकार नहीं किया। रूप और विज्ञान भिन्न है, और उनकी तीन प्रकार की स्थितियां भी उसी तरह भेद रखती हैं। पांचों स्कन्ध मिलकर विश्व की व्याख्या करते हैं। कार्य से कारण को बिल्कुल भिन्न मानने पर उनके सिद्धान्तों के अनुसार रूप से भी विलक्षण विज्ञान उत्पन्न हो सकता है; पर इस बात को कहीं साफ नहीं किया, इसलिये हमें भी खींचातानी नहीं करनी चाहिये।

वह उच्छेदवाद अर्थात् शरीर के साथ जीवन की समाप्ति को नहीं मानते, लेकिन उन्हें यह मानने में उज्र नहीं कि जीवन प्रतिक्षण

उत्पन्न होकर सर्वथा नष्ट हो जाता है। उच्छेद से उनका अभिप्राय जीवन-प्रवाह या सन्तान उच्छेद से। जीवन एक अविच्छिन्न रेखा नहीं है, बल्कि करोड़ों बिन्दुओं का समूह है। हर एक बिन्दु हरएक क्षण के जीवन का प्रतिनिधि है। यद्यपि जीवन का हरएक विन्दु हर क्षण नष्ट हो रहा है, लेकिन उससे प्रवाह उच्छिन्न नहीं होता। एक की जगह दूसरा आता है, दूसरे की जगह तीसरा। इस तरह वह प्रवाह जारी रहता है। इस शरीर में भी जीवन-विन्दु-प्रवाह जारी रहते उनके एक दूसरे के अतिसमीप रहने के कारण जीवन की एकता का भान होता है, जैसे विन्दुओं द्वारा बनी रेखा का। इसी जीवन-प्रवाह को इस शरीर के बाद भी अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार बनते वह मानते हैं। कर्म का फलदाता कोई दूसरा नहीं है। हरेक आदमी जैसा करता है, उसी के अनुसार उसका जीवन बन जाता है, और यही तदनुकूल फल है। बुद्ध के सिद्धान्त के अनुसार हरेक मानव हर क्षण अपने अनन्त काल के अर्जित सुगुणों-दुर्गुणों का मिश्रित समूह है। यहां भी मध्यमा प्रतिपद् को ही बुद्ध ने स्वीकार किया। आत्मवादी आत्मा को मान कर उसके चोले को बदलते रहने की बात करते थे, और जड़वादी मृत्यु के साथ जीवन की समाप्ति मानते थे। आत्मवाद को न मानते हुये बुद्ध ने जन्मान्तर की संगति के लिये जीवन-बिन्दु-प्रवाह को मान लिया, और उच्छेद-को भी मानने से इन्कार कर दिया।

बुद्ध के दर्शन (प्रज्ञा) ने अपने समय के बहुत से गम्भीर विचारकों को आकृष्ट किया। उनके प्रधान शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन उस समय के गम्भीर विचारकों में से थे, जिन्होंने पण्डित ब्राह्मण विचार धारा का पूरी तौर से अवगाहन किवा था। इन दोनों शिष्यों के वाद महाकात्यायन और महाकाश्यप उनके प्रमुख शिष्य थे। दोनों ही ब्राह्मण घर में पैदा होकर ब्राह्मणों की विद्या में निष्णात थे।

ऐसी प्रतिभाओं को बुद्ध अपने दर्शन द्वारा आकृष्ट करने में सफल हुये। उसके बाद भी अश्वघोष, नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग धर्मकीर्ति जैसे महान प्रतिभाशाली ब्राह्मणों को बुद्ध के विचारों ने संतुष्ट किया, और वह भारतीय दर्शन को आगे ले जाने में सफल हुये। युरोप में १९वीं शताब्दी में उत्पन्न हेगेल के दर्शन को सबसे अधिक पुष्ट और विकसित माना जाता है। हेगेल के दर्शन के उत्पन्न होने से तेरह शताब्दी पहले भारतीय हेगेल धर्मकीर्ति हुये थे, जिनको उत्पन्न करने का श्रेय बुद्ध की विचारधारा को है। धर्मकीर्ति और और उनके पूर्वज दिङ्नाग ने बुद्ध के दर्शन को स्पष्ट करते हुये 'प्रमाणवार्तिक' और 'प्रमाणसमुच्चय' लिखे। 'प्रमाणसमुच्चय' मूल संस्कृत में नहीं मिलता। प्रमाणवार्तिक अपनी कई टीकाओं और भाष्यों के साथ तिब्बत से मिलकर अब मूल संस्कृत में छप चुका है। भारतीय दर्शन के चरम विकास को जानने के लिये इनका अध्ययन अनिवार्य है। इन विचारधाराओं को बिना पढ़े हुये हम एकांगी निर्णय कर बैठते हैं। कहा जाता है, वेदान्त ही एक मात्र भारत की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन यह गलत है। वेदान्त के आत्मवाद से बिल्कुल उलटा अनात्मवाद का दर्शन भी भारत में ही उत्पन्न हुआ। कितने ही समझते हैं, ईश्वरवाद—आस्तिकवाद—भारत की अपनी चीज है। लेकिन, अनीश्वरवादी बुद्ध, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति कहाँ से आये? केवल रूढ़िवाद का एकाधिपत्य हमारे यहाँ कभी नहीं रहा। रूढ़ियों के प्रबल विरोधी भी यहाँ होते रहे हैं। नालन्दा के महान् दार्शनिक धर्मकीर्ति (६०० ई०) से बढ़कर रूढ़िका विरोधी कौन हो सकता है, जिन्होंने डंके की चोट से कहा था—

'वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारंभः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिंगानि जाड्ये।'

बुद्ध के प्रादुर्भाव से पहले ही उपनिषद् के विचारकों के रूप में हमारे देश में दार्शनिकों का महत्त्व बढ़ चुका था। उपनिषद् बाहरी दुनिया को अनित्य मानने के लिये तैयार था, लेकिन वह उसके भीतर से एक नित्य सत्ता खोज निकालना चाहता था। असीम परिवर्तन की दुनिया सचमुच ही शान्ति की दुनिया नहीं हो सकती, इसीलिए वास्तविक हो या काल्पनिक, एक सनातन अपरिवर्तनशील तत्त्व को ढूंढने की तरफ वेदकाल के बाद के विचारकों की पीढ़ियां दिन-रात एक करने लगीं और उन्होंने आत्मा (ब्रह्म) के रूप में उस तत्त्व को ढूँढ निकाला। यद्यपि इस सफलता का यह परिणाम नहीं हुआ कि अब नई-नई जिज्ञासायें उत्पन्न न हो सकी। यह तो इसी से मालूम होता है, कि बुद्ध-काल में बुद्ध को लेकर सात बड़े-बड़े आचार्य अपने-अपने दर्शन के आविष्कार और प्रतिपादन के लिये विख्यात थे, और ये सभी उपनिषद् या वेद के मार्ग के अनुयायी नहीं थे, बल्कि ब्राह्मणों के धर्म के मुकाबिले में उन्होंने नये तीर्थ (धार्मिक संप्रदाय) स्थापित किये। सभी में अपनी-अपनी विशेषतायें थीं। ये किसी न किसी धर्म के प्रवर्तक माने थे, और उनके धर्म में भौतिकवाद और अनीश्वरवाद तक सम्मिलित थे।

बुद्ध का मुख्य प्रहार उपनिषद् दर्शन पर था, यह तो इसी से मालूम है, कि उपनिषद् के आत्म-तत्व की जगह इन्होंने अपने दर्शन में अनात्मा का प्रतिपादन किया। अनात्मा से मतलब आत्मा का अभाव मात्र नहीं था, बल्कि वह इस शब्द से यह बतलाना चाहते थे, कि चाहे भीतरी-बाहरी किसी संसार या पदार्थ को देखा जाये, कहीं पर उपनिषद् प्रतिपादित आत्मा जैसे सनातन तत्व का अस्तित्व नहीं मिलता। सभी पदार्थ बाहर से भीतर तक सतत परिवर्तनशील है, और यह परिवर्तन ऊपरी नहीं होता, बल्कि जड़-मूल से एक वस्तु को नाश कर क्षण भर के लिये दूसरो वस्तु को ला रखता है। इस

तरह देश और काल में यह परिवर्तन सदा से होता आ रहा है और सदा होता रहेगा। 'सब अनित्य है' (सब्बं अनिच्चं), 'सब अनात्म है' (सब अनत्ता) इन वाक्यों को बुद्ध ने पूरे अर्थों में इस्तेमाल किया, और विश्व में इसे अटल सिद्धान्त बतलाया। अनित्यता के नियम का कोई अपवाद नहीं है, या कह लीजिये, अपवाद सिर्फ यही सर्वव्यापी अनित्यता है।

अनित्यवाद को और स्पष्ट करते हुये पीछे के आचार्यों ने इसका दूसरा नाम क्षणिकवाद रक्खा और बतलाया 'जो सद् वस्तु है, वह क्षणिक है (यत् सत् तत् क्षणिकँ)। दूसरे शब्दों में यह भी कह दिया कि जो क्षणिक नहीं, वह सद् वस्तु नहीं, वह सिर्फ कल्पित हो सकती है। क्षणिकता या नित्यता के विश्वव्यापी नियमों को स्वीकार कर लेने पर फिर न आत्मा की गुंजाइश रह जाती न ईश्वर की। इसलिए बौद्ध-धर्म और दर्शन का अनीश्वरवादी होना बिल्कुल स्वाभाविक है। बुद्ध के समय या उससे पहले ऐसा दर्शन मौजूद नहीं था। भौतिकवादी भी इस तरह के भौतिक सूक्ष्म तत्त्वों के ठोस और अचल रहने को मानते थे, जो ईंट की तरह जोड़कर पदार्थों को बनाते थे। वह सिद्धान्त बहुत कुछ परमाणुवाद सा था, पर परमाणुवाद अभी भारत में स्वीकृत नहीं हुआ था। ग्रीक लोगों के भारत में आने पर ही उसका भारतीयकरण हुआ, और वैशेषिक ने उसे अपने मौलिक सिद्धान्त के तौर पर स्वीकार किया। भौतिकवादियों तक ने जब विश्व के अन्तस्तल में कूटस्थ अविकारी ईटों को मान लिया था, तो दूसरों की बात ही क्या ?

क्षणिकवाद के सिद्धान्त को अपनाने पर कई समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। ईश्वर या आत्मा जैसी किसी अवलम्ब लेने की सत्ता के अभाव में अब निर्बल आदमी को कैसे अपनी जीवन-यात्रा करनी चाहिये ? बुद्ध ने इसके लिए कहा : तुम स्वावलम्बी बनो (अत्तदीपा

भवथ अत्तसरणा)। तुम अपने ही अपने स्वामी हो (अत्ता हि अत्तनो नाथो)। किसी देव या मनुष्य की शरण या सहायता लेना बेकार है, और उसकी अवश्यकता भी नहीं है। मनुष्य अपने ही बलपर आगे बढ़ सकता है। अपनी गलती से अगर उसे डूबना ही पड़े, तो कोई पर्वाह नहीं। पर दूसरे की बात में पड़ के, दूसरे का सहारा लेकर डूबना बेवकूफ बनना शोभा की बात नहीं है। बुद्ध ने इस प्रकार स्वावलम्बन का जबर्दस्त पाठ पढ़ाया। स्वावलम्बी होकर आदमी अकर्मण्य नहीं हो सकता। आखिर उसे अपने कर्मों के भरोसे पर ही तो चलना है। यह कर्म-सिद्धान्त बौद्धों का एक मुख्य सिद्धान्त है। वैसे दूसरे भारतीय धर्म "कर्म भी प्रधान विश्वकरिराखा, जो जस करै सो तस फल चाखा" को मानते रहे हैं, पर कर्म के फेर में पड़ने से बचने का भी उपाय बतलाते हैं। अपने कर्मों का भरोसा बिल्कुल छोड़ कर भगवान की शरण में आ जाओ, और मुक्ति तुम्हारे हाथ में धरी हुई है। वैष्णव-धर्म ने भी इस बात का प्रचार किया और ईसाई-धर्म तो इसको ही सर्वोपरि सिद्धान्त मानता रहा। भगवान् ईसा मसीह की कृपा होनी चाहिये, फिर नर्क की यातना नहीं मिल सकती। इस्लाम ने भी इस्लाम-धर्म मानने और पैगम्बर की सिफारिश पर सभी पापों के विनाश की घोषणा की। बौद्ध-दर्शन साफ कहता है, कि हरेक अच्छा या बुरा काम हाथ से छूटा हुआ तीर है। करने के साथ ही वह जीवन को अपने रूप में बदल देता है। हरेक जीवन अपने अतीत के अनन्त काल के कर्मों के प्रभावों का योग है। इस योग को करने के लिए किसी बाहरी देवता और साधन की अवश्यकता नहीं है। जिस तरह बहती हुई जल-प्रणाली में लगातार पड़ते हुये रंग उसे तत्काल अपने रूप में रंगते जाते हैं, वही स्थिति जीवन की है।

जीव, आत्मा या दूसरे तरह के शब्द बौद्ध-दर्शन के समझने में भ्रांति पैदा करते हैं। क्योंकि वह किसी न किसी स्थिर तत्व की

सूचना देते हैं, जब कि बौद्ध-दर्शन के अनुसार शरीर में आत्मा या जीव जैसी कोई चीज नहीं है, बल्कि जैसे शरीर भौतिक तत्वों का क्षण-क्षण बदलता प्रवाह है, उसी तरह उसके भीतर की चेतना (जीवन) भी क्षण-क्षण बदलती चेतना - प्रवाह है। द्वैतवादी बौद्ध-दर्शन इन दोनों प्रवाहों को एक दूसरे पर आश्रित बराबर बदलते हुये मानते हैं। अद्वैतवादी इनमें एक को मुख्यता देते हैं, और दूसरे को उसी मुख्य तत्व का परिणाम मात्र कहते हैं। शरीर भौतिक पदार्थ है। भौतिक पदार्थों को बौद्ध-परिभाषा में रूप कहा जाता है, और इसके भीतर के अभौतिक प्रवाह-चेतना-को विज्ञान कहते हैं।

चेतना और चेतन का उनके यहां कोई भेद नहीं है। चेतना को ही चेतन का नाम दिया जाये, तो उन्हें आपत्ति नहीं है। पर, इन दोनों के अलग अस्तित्व को मानने में फिर आत्मवाद की भ्रांति पैदा हो जाने का डर है, इसलिये उसे बौद्ध पसन्द नहीं करते। इस असीम परिवर्तनशीलता को देखने पर दुनिया में वस्तुत: वस्तु नाम की कोई चीज नहीं है, बल्कि घटनायें हो रही हैं। घटनायें काल में इतने थोड़े-थोड़े अन्तर से होती हैं, कि जिनका पकड़ना भी मुश्किल है, और उनके उन परिवर्तन को न देखने पर देर तक एक तरह के रूप देखकर एकता या स्थिरता का भ्रम हो जाता है। बौद्ध-दर्शन स्थिरता के दर्शन से उलटा है। जब विश्व में स्थिरता नाम की कोई चीज है ही नहीं, बल्कि प्राकृतिक नियमों के कारण हरेक वस्तु - घटना - जड़-मूल से परिवर्तित होने के लिये मजबूर है, तो विश्व में परिवर्तन करने वाली, गतिकारक शक्ति की अवश्यकता नहीं। पदार्थों का अपना रूप ही गति देने के लिये पर्याप्त है।

गति, अनित्यता या विनाश के इस अटल सिद्धान्त को मान लेनेपर

इसकी यह व्याख्या स्पष्ट हो जाती है, कि संसार में वस्तुओं के विनाश के लिये किसी कारण की अवश्यकता नहीं। बिना कारण, बिना हेतु सारे पदार्थ पैदा होकर दूसरे क्षण अपने आप नष्ट हो जायेंगे, यह बौद्धों का 'अहेतुक विनाश' सिद्धान्त है। इसके कारण वह अहेतुवादी नहीं कहे जा सकते। विनाश के लिये किसी हेतु की अवश्यकता नहीं है, क्योंकि विनाश अभावरूप है। लेकिन उत्पत्ति के लिये हेतु की—हेतु नहीं बल्कि हेतुओं की अवश्यकता है। उत्पत्ति किसी वस्तु के भाव के रूप में होती है। किसी एक वस्तु की उत्पत्ति के लिये एक कारण विश्व में कहीं नहीं देखा जाता। अनेक हेतु मिलकर एक कार्य को उत्पन्न करते हैं। बौद्धों के इस सिद्धान्त को हेतुसामग्रीवाद कहते हैं। जो लोग अनुमान से ईश्वर की सत्ता साबित करना चाहते हैं, उनके लिये बौद्धों की यह जबर्दस्त आपत्ति है, कि दुनिया की छोटी या बड़ी किसी चीज को ले लीजिये, उसके उत्पन्न होने में अनेक कारण होते हैं। घड़े के पैदा करने में कुम्हार, उसका डंडा, उसका चाक, मिट्टी, पानी, मिट्टी का ढोनेवाला गदहा और कितनी ही चीजें। कुम्हार की कला के विकास करने में सहायता देने वाली सैकड़ों पीढ़ियाँ हैं। सभी घड़े के उत्पादन में कारण हैं। अगर कार्य से कारण का अनुमान होता है, तो यही, कि एक कार्य के अनेक कारण होते हैं। अनेक कारणों में किसी को महत्व-हीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चाहे बाजार के मोल-भाव में किसी चीज का दाम कितना ही कम हो, लेकिन जब उसके बिना कार्य का होना बिल्कुल असंभव है, तो वह दूसरे कारणों के ही समान महत्व रखती है।

कार्य चरम अनित्यता के सिद्धान्त के अनुसार कारण का दूसरा रूप हो जाता है। स्थिरवाद में घड़े का कारण मिट्टी के लोदे को मामते हैं, और उस लोदे और घड़े दोनों में मिट्टी परिवर्तन होते भी

मौजूद है। इस तरह के स्थूल कथन को बौद्ध भी व्यवहार सत्य के तौर पर मान लेते हैं, लेकिन यह परमार्थ सत्य नहीं है। परमार्थ दृष्टि से देखने पर मिट्टी के लोंदे के भीतर के सूक्ष्म अंशों (परमाणुओं) और उनकी नितान्त क्षणभंगुरता का ख्याल रखना होगा। वह दूसरे ही क्षण बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं, और फिर दूसरी चीज उनकी जगह पर आ जाती है। कार्य और कारण में कोई चीज एक से दूसरे में स्थिर रहते स्थानान्तरित नहीं होती, बल्कि एक जड़-मूल से नष्ट होकर दूसरे के उत्पन्न होने के लिये रास्ता छोड़ती है। कारण जिस वक्त था, उस वक्त कार्य नहीं था, कार्य जिस वक्त अस्तित्व में आया, उस वक्त कारण का अत्यन्त विनाश हो चुका था। इसलिये वास्तविक तौर से कार्य और कारण का एक दूसरे के साथ कोई भी सम्पर्क नहीं हुआ। उनके बारे में यही कहा जा सकता है, कि कारण पहले था, उसके बाद कार्य आया—'अस्मिन् सति इदं भवति' (इसके होने पर यह होता है)। इस तरह हम देखते हैं, कि बौद्ध दार्शनिक विचारों से कार्य-कारण की व्याख्या भी नई हो जाती है।

अनित्यता को आत्मवाद पर लगाने पर अनात्म का सिद्धान्त आ जाता है, इसे भी ऊपर के कथन से आसानी से समझा जा सकता है। 'सब दुःख है' के कहने से बुद्ध का दर्शन दुःखवाद सा मालूम होता है, लेकिन दुःखवाद या निराशावाद बौद्ध-दर्शन में नहीं है। वह सिर्फ इस वास्तविकता को बतलाना चाहता है, कि हरेक वस्तु के क्षण-क्षण विनाशी होने से कोई भी संयोग स्थायी नहीं हो सकता, या हरेक संयोग की जड़ में वियोग बैठा हुआ है। प्रिय के वियोग—प्रिय वस्तु या प्राणी के वियोग—होने पर दुःख होता है। इस प्रकार जीवन में दुःख का मिलते रहना स्वाभाविक है। पर बुद्ध ने दुःख मानने के लिये नहीं, बल्कि दुःख को हटाने के लिये कहा है। हरेक दुःख का कारण (समुदय) होता है, उसे हटाया जा सकता है (निरोध), और

जाती थी, उसे आगत-अनागत-चातुर्दिश संघ को ही दिया जाता था। यह प्रथा कमसे चार-पांच शताब्दियों तक रही। लंका में ईसवी सन् से पहले की दो शताब्दियों में दान भूत-भावी चारों दिशाओं की संघों के लिये दिया गया था, यह वहां के शिलालेखों से पता लगता है। यह दूसरी बात है, कि बौद्ध-संघ में आर्थिक साम्य-वाद अधिक दिनों तक चल नहीं सका और ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के सांची और भरहुत के शिलालेखों में हम भिक्षुओं-भिक्षुणियों को अपने धन से खम्भे और वेष्ठनी बनवाते देखते हैं, जिसका अर्थ है, आठों चीजों के अतिरिक्त भी उनके पास वैयक्तिक सम्पत्ति थी।

बुद्ध को गणों की राजनीतिक व्यवस्था बहुत पसन्द थी। वह दासता-प्रधान युग था, इसलिये उस समय के सबसे अधिक समृद्ध और शक्तिशाली लिच्छवि (वैशाली) गण में जनतन्त्रता केवल उन्हीं लोगों के लिये थी, जो लिच्छवि-वंश के थे। दास जंगम सम्पत्ति थे, और उनकी संख्या काफी थी। लिच्छवी-भिन्न ब्राह्मण या गृहपति जातियां यद्यपि मुक्त थीं, पर उनको शासन में सम्मति (वोट) देने आदि का कोई अधिकार नहीं था। वह लिच्छवियों की न्यायप्रियता पर ही निर्भर करते थे। तो भी राजतन्त्र से गणतन्त्र बेहतर थे, इसे कहने की अवश्यकता नहीं। बुद्ध ने राजा की उत्पत्ति किसी दैवी स्रोत नहीं बल्कि उसका कारण वैयक्तिक सम्पत्ति को माना है : वैयक्तिक सम्पत्ति के कारण लोगों में विषमता हुई, वह आपस में झगड़ने लगे, एक दूसरे की सम्पत्ति को गुप्त या प्रकट रीति से छीनने की कोशिश करने लगे, इसके लिये उन्होंने एक को अपना न्यायकर्ता बनाया और वह शक्ति संचय करते--करते आगे चलकर राजा बन गया।

बुद्ध का समय ईसा-पूर्व छठी-पांचवीं (मृत्यु ४८३ ई० पू०) है। उस समय देश में आर्थिक और सामाजिक ऊंच-नीच भेद भाव बड़े

उग्र रूप में था। आर्थिक ऊंच-नीच के भाव को हटाने के लिये तो बुद्ध ने केवल संघ में कोशिश की, लेकिन सामाजिक ऊंच-नीच के भावको हटाने का सर्वत्र प्रयत्न किया। जातिवाद के विरुद्ध उन्होंने जो आवाज उठाई, उसका असर भी हुआ। लेकिन, जातिवाद के मूल आधार आर्थिक थे। ऊंचीजात वाले सम्पत्ति के स्वामी और नीची जातवाले सम्पत्ति-वंचित थे। एक को हटाये बिना दूसरे को हटाया नहीं जा सकता। तो भी उनके संघ ने सबसे नीचे समझे जानेवाले चाण्डाल-संतानों को भी भिक्षु-भिक्षुणी होने पर बराबर का स्थान दिया। जातियों, देशों और वर्णों का भेद मिटाकर मानवता को एक मानने का रास्ता बौद्ध-धर्म ने बहुत जोर से प्रशस्त किया। पंचशील में सह-अस्तित्व के जिस सिद्धान्त को माना गया है, उसे बौद्ध-धर्म और उसके प्रचारकों ने कार्य-रूप में परिणत किया था और किसी देश की संस्कृति को नष्ट करने का ख्याल भी नहीं किया।

और क्षेत्रों में जिस तरह बौद्ध-धर्म की अपनी मौलिक देनें हैं दर्शन में उसकी देन और भी महान् है। यह कहना तो गलत होगा, कि मार्क्स के दर्शन को उससे सहायता मिली, या मार्क्सीय दर्शन के तत्वों के पास तक वह पहुँचा। पर, इसमें शक नहीं है, कि बौद्ध-दर्शन के विद्यार्थी के लिये मार्क्सीय दर्शन का समझना आसान हो जाता है। हम जानते हैं, कि हेगल के दर्शन ने मार्क्सीय दर्शन के विकास में काफी हाथ बटाया था, हेगलीय दर्शन की असंगतियों को हटाने के लिये मार्क्सीय दर्शन का विकास हुआ। कहा ही जाता है कि हेगलीय दर्शन के रूप में जो तत्व-दर्शन सिर के बलपर खड़ा था उसे मार्क्स ने पैरों पर खड़ा कर दिया। हैगल विज्ञान (मन) को मूल और सत्य मानता था, और भौतिक तत्व या जगत् को उससे उत्पन्न। मार्क्स ने भौतिक तत्व (जड़) को मौलिक माना और विज्ञान, (मन) को तदुत्पन्न। बौद्ध-दर्शन का सबसे प्रबल और अन्तिम

रूप बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा कि हेगल का विज्ञानवाद—योगाचार का विज्ञानवाद क्षणिक है और अभौतिक ।

बौद्ध-दर्शन का मूल सूत्र है 'सब अनित्य' है । अनित्य के लिये पीछे क्षणिक शब्द का इस्तेमाल होने लगा और कहा जाने लगा गया,—'जो सद् है, वह क्षणिक है ।' जो क्षणिक नहीं है, वह सद् नहीं है । इस प्रकार बौद्ध-दर्शन ने विश्व में किसी वस्तु के नित्य, एक रस, अविकारी होने से इनकार कर दिया । यह ऐसा सिद्धान्त है, जिसका कोई अपवाद नहीं है । इसका परिणाम यह होना ही चाहिये था, कि बौद्ध-धर्म ईश्वर या नित्य आत्मा की सत्ता से इनकार करता । बौद्ध-दर्शन अपने को अनात्मवादी होने का अभिमान करता है । बुद्ध के जन्म के समय ही उपनिषद् का काल समाप्त हो रहा था । उपनिषद् के ऋषियों का सबसे बड़ा जोर आत्मतत्व पर था—आत्मा एक अभौतिक (अ-जड) तत्व है, जो नित्य, अविकारी है । उपनिषद् के इस नित्यतावादी तत्वज्ञान को ध्वस्त करना बौद्ध-दर्शन का मुख्य लक्ष्य था, इसीलिये उपनिषद् के आत्मवाद के विरुद्ध उसका नाम अनात्मवाद पड़ा । बौद्ध-दर्शन के सर्वानित्यतावाद, क्षणिकवाद ने विश्व को एक दूसरी ही दृष्टि से देखने की प्रेरणा दी । बाहरी जगत् को आत्मवादी (नित्यतावादी) भी परिवर्तनशील मानने के लिये तैयार थे, लेकिन वह उसके भीतर नित्य सत्ता का प्रतिपादन करते थे—इसे आत्मा, ब्रह्म का नाम देते थे । बौद्ध-दर्शन ने बतलाया, कि जैसे केले के स्तम्भ को भीतर से देखा जाये तो, परत के बाद परत, छिलके के बाद छिलके निकलते आयेंगे, वहाँ कोई सार नहीं मिलेगा । उसी तरह विश्वके भीतर और बाहर के सारे पदार्थ किसी नित्य सार—आत्मा, ब्रह्म—वाले नहीं है, वह ऐसे सार से शून्य है । बौद्ध शून्यवाद की भावना यहीं से पैदा हुई । अपने सर्वानित्यतावाद को समझाने के लिये वह बादल, या दीपक की लौ का उदाहरण देते

हैं। बादल जिस तरह क्षण-क्षण परिवर्तनशील है, वही हालत विश्व की है। ठोस से ठोस हीरा या लोहा भी क्षण-क्षण परिवर्तित होता रहता है। उनमें पूर्व और पर रूप में सदृशता, समानता क्यों दिखलाई पड़ती है? इसका उत्तर बौद्ध देते हैं----इसका कारण है सदृश उत्पत्ति, कारण से कार्य का। उत्पन्न होने वाली चीज अपनी पूर्वगामी वस्तु के समान होती है, इसीलिये हमें एकता का भ्रम होता है। दीपक की लौ क्षण-क्षण बदल रही है, लेकिन पुरानी लौ की जगह उत्पन्न होने वाली नई लौ पहले के सदृश होती है, इसलिये हम कह बैठते हैं, कि 'यह वही लौ है।'

बिना अपवाद के सारे भीतरी और बाहरी जगत् को अनित्य मानने, पर कार्य-कारण के सिद्धान्त और उसकी व्याख्या को भी भिन्न मानना जरुरी था। परमाणु या द्रव्य को ठोस नित्य ईंटे मानने वाले कह सकते थे, कि ये एक दूसरे से मिलकर नई चीजों को बनाती हैं। इनका संघटन और विघटन वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाश है। लेकिन बौद्ध-दर्शन में ऐसी कोई कूटस्थ नित्य ईट नहीं थी। सभी वस्तुयें नित्यसार से शून्य हैं—अर्थात्, वह वस्तु नहीं, बल्कि घटनायें मात्र हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि जैसे सोना मूल तत्व है, जो ही भिन्न-भिन्न रूप लेकर, कंकण, कुण्डल बनता है। कार्य-कारण के नियम को समझाने के लिये एक विशेष पारिभाषिक शब्द का बुद्ध ने इस्तेमाल किया, जो है प्रतीत्य-समुत्पाद्। इसकी व्याख्या करते हुये वह कहते हैं, अस्मिन् सति इदं भवति (यह होने पर यह होता है) इसके समाप्त होने पर यह उत्पन्न होता है—जो अभी-अभी समाप्त हुआ है, वही कारण है, और जो उसके समाप्त होने के बाद उत्पन्न हुआ, वह कार्य है। कारण के अस्तित्व के समय कार्य का नितान्त अभाव था और कार्य के अस्तित्व में आने के समय कारण का सर्वथा अभाव हो चुका

था। कारण के भीतर छिपी कोई ऐसी नित्य सारभूत वस्तु नहीं थी, जो कि कार्य के भीतर निहित है। दोनों वस्तुतः एक दूसरे से इसके सिवा और कोई सम्बन्ध नहीं रखती, कि वह एक दूसरे से पहले या पीछे हुई।

जब विश्व को वस्तुओं का समूह नहीं, बल्कि घटनाओं का समूह माना गया तो प्रतीत्यसमुत्पाद की कल्पना अनिवार्य हो गई। सर्वानित्यतावाद अर्थात् सर्वशून्यतावाद ने विश्व को घटनाओं के रूप में देखने के लिये मजबूर किया। कार्य-कारण नियम के पुराने विचारों को हटाने के बाद प्रतीत्यसमुत्पाद नियम पर पहुँचना पड़ा—अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद ने पुराने कार्य-कारण के सिद्धान्त का स्थान लिया। यहां एक और भी धारणा को बौद्ध-दर्शन ने खण्डित किया। पहले एक कारण से एक या अनेक कार्य की उत्पत्ति मानी जाती थी। उपनिषद् के ऋषि एक आत्मा से अनेक विचित्र वस्तुओं की उत्पति मानते थे। भौतिक जगत् में भी एक तत्व का कारण और उससे उत्पन्न होनेवाले दूसरे तत्व को कार्य कहा जाता था। बौद्ध-दर्शन ने कहा, कि कोई चीज—या उनकी भाषा में धर्म (घटना)—एक से नहीं पैदा होता। किसी पदार्थ का एक कारण नहीं होता, बल्कि अनेक कारण मिलकर एक चीज को पैदा करते हैं। इस सिद्धान्त को उन्होंने हेतुसामग्रीवाद, कारण-समूहवाद का नाम दिया। महान् दार्शनिक धर्मकीर्ति ने कहा है—'न चैकं एकस्माद् सामग्र्या सर्वसम्भवः' (एक से एक-एक चीज नहीं बल्कि समूह से सब की उत्पत्ति होती है)। बहुत से हेतु (कारण) जब एकत्रित हो जाते हैं, तो उनसे एक कार्य पदार्थ पैदा होता है। मार्क्सवादी दर्शन की तरह यहाँ अनेक विरोधियों के समागम सीधे को नहीं बतलाया गया है, पर यह साफ कहा गया है कि कार्य अनेक कारणों के इकट्ठा होने से पैदा होता है, उन कारणों में अगर एक छोटी भी चीज न रहे तो कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। कार्य

बौद्ध-दर्शन के अनुसार कारण से बिल्कुल भिन्न चीज है अर्थात् कारण से गुणात्मक परिवर्तन के साथ कार्य पैदा होता है और यह गुणात्मक परिवर्तन (सर्वथा अभिनव कार्य) तब तक नहीं हो सकता जब तक कि सभी कारण अपेक्षित परिमाण (सामग्री) में जमा नहीं हो जाते। कार्य-कारण की इस कल्पना में गुणात्मक परिवर्तन और कारणों के परिमाण की बात आ जाती है।

विश्व को इस रूप में देखते बौद्धों ने सद् और असद् (वस्तुओं) की व्याख्या की। पहले के विचारकों के लिये यह व्याख्या आसान थी। वह कह देते थे कि जो नित्य, कूटस्थ, निर्विकार है, वह सद् है, और जो अनित्य, अकूटस्थ, सविकार है, वह असद् है। बौद्ध दर्शन में ऐसी सद् वस्तु के लिये कोई स्थान नहीं था। तो भी सर्व-अनित्यतावादी दर्शन होते वह सद् और असद् के भेद को मानता है। उसने सद् वस्तु की व्याख्या की—अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसद् (अर्थ करने में जो समर्थ है, वह परमार्थसद् है)।

लड्डू-पूरी सच्चे हैं, क्योंकि वह अर्थक्रिया-समर्थ हैं, अर्थात् भूख दूर करने रूपी अर्थक्रिया में समर्थ हैं। सपने की लड्डू-पूरी सद् नहीं हैं, क्योंकि वह भूख दूर नहीं कर सकती, वह अर्थक्रिया में उन असमर्थ हैं। अर्थक्रिया समर्थ को सद् (वास्तविक) ही नहीं, बल्कि परमार्थ सद् कहा गया है। पुराने विचारों के अनुसार जिसे सद् कहा जाता वह कूटस्थ, नित्य, निर्विकार होने से किसी अर्थक्रिया के करने में भी समर्थ नहीं हो सकता। यदि वह प्रत्यक्ष (प्रमाण) या उस पर आधारित अनुमान (प्रमाण) का विषय नहीं है, तो ऐसे इन्द्रियों से परे वाली निष्क्रिय वस्तु के अस्तित्व का क्या प्रमाण है। सद् (वस्तु) के अर्थक्रियासमर्थ (चीज) होने की बहुत जबर्दस्त कसौटी है, और इसमें शक नहीं, कि उसमें आधुनिक विचारों का आभास मिलता है। सत् को प्रयोग की कसौटी पर उतरना चाहिये, केवल बुद्धिवाद के आधार पर किसी चीज को सद्

नहीं कहा जा सकता। बुद्धिवादियों ने इस पर यह आपत्ति उठा, कि तुम्हारा कथन बुद्धिसंगत नहीं है, धर्मकीर्त्ति ने जवाब दिया था—यदिद स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयं—अगर पदार्थों को यही पसन्द है, तो हम (उसमें टाँग अड़ाने वाले) कौन हैं। वाद प्रामाणिक नहीं, केवल प्रयोग ही सद् वस्तु की कसौटी है। यह बड़ा हथियार था, लेकिन इसका व्यवहार नहीं किया गया और उसके कारण भी थे। सारी साइन्स की प्रगति इसी सूत्र के ऊपर आधारित है, कि हम पदार्थों को अपना पथ-प्रदर्शक मानें।

काया और मन अथवा, रूप और विज्ञान दोनों तत्वों संबंधी विचारों में बौद्ध-दर्शन में मतभेद है। अद्वैतवादी विज्ञानवादी केवल विज्ञान (मन) को ही सद् मानते हैं। हाँ, उनका यह सद् भी क्षणिक, अनित्य है, यह कहने की अवश्यकता नहीं। दूसरे द्वैतवादी रूप और विज्ञान के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानते हैं। लेकिन यह तो दोनों मानते हैं, कि मन काय स्थित है ('उक्तं कायस्थितं मनः')। काया या रूप से अन्यत्र मन या विज्ञान स्थित नहीं हो सकता। रूप और विज्ञान का परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह इस वाक्य से कुछ-कुछ मालूम होता है, अर्थात् मन काया (रूप) में स्थित या आश्रित है। द्वैतवादियों ने भी नहीं माना, कि रूप का चरम विकसित आकार विज्ञान है। अद्वैतवादी विज्ञानवादी (मन-वादी) तो रूप को विज्ञान का परिणाम विकसित मानते थे। वह इसके लिये जल और तरंग की उपमा देते हुये कहते हैं, कि सारा जगत् या रूप विज्ञान का ही परिणाम—विकार—विकास है। यह विचार हेगलीय दर्शन जैसा ही है। अगर 'विज्ञानपरिणामोसौ' (यह जगत् विज्ञान का विकार है) इसकी जगह 'विज्ञानं परिणामोस्य' (इस रूप का परिणाम विज्ञान है) कहा जाये, तो बौद्ध विज्ञानवाद शीर्षासन की साँसत से बँचकर अपने पैरों पर खड़ा हो जायेगा। ऐसा सोचने के लिये उनके दर्शन में ऐसी बातें भी थीं—जब हरेक कार्य अपने कारणों से बिल्कुल

भिन्न. गुणात्मक तथा सर्वथा नई वस्तु है, तो रूप (जड़) से विज्ञान या मन के उत्पन्न मानने में क्या कठिनाई थी,—मन या विज्ञान रूप बिल्कुल विलक्षण होते हुये भी वह उसका कार्य (वस्तु) हो सकता है। मार्क्सवादी भौतिकवाद मन को भौतिक तत्वों (जड़) की उपज मानते हुये भी यह नहीं कहता, कि मन भौतिक तत्व (मात्र) है, वह मन को उससे भिन्न तथा उसका चरम विकास मानता है।

बुद्ध के समय भारत में एक तरफ आत्मवादी विचारक थे, जो आत्मा को नित्य निर्विकार मानते थे और दूसरी तरफ आत्मा की सत्ता से इनकार करने वाले भौतिकवादी (उच्छेदवादी) विचारक भी थे, यद्यपि उनका भौतिकवाद यान्त्रिक भौतिकवाद (जड़वाद) से ऊपर नहीं उठा था। बुद्ध और उनके अनुयायियों ने एक ऐसे दर्शन का प्रतिपादन किया, जिसमें कितनी ही बातें सुविकसित भौतिकवाद की मिलती हैं, लेकिन वह अपने को भौतिकवादी कहने के लिये तैयार नहीं था। सभी बातों में बीच का रास्ता मध्यमा प्रतिपद् अपनाने का आग्रह बौद्ध-विचारकों को शुरू से ही रहा, यहाँ भी वह अपने को आत्मवाद और भौतिकवाद के बीच में रखना चाहते हैं, यद्यपि अनित्यतावाद के सम्बन्ध में वह मध्य का रास्ता नहीं लेते। ऐसा मानने के कारण ही धर्मों (मजहबों) के भीतर बौद्ध-धर्म को परिगणित किया जा सका। दर्शन में इतनी विचार उग्रता रखते भी पुनर्जन्म, योग-समाधि और दूसरी कितनी ही बातें उनकी वैसी ही हैं, जैसी अधिकांश धर्मों की।



स्थूल जगत् को ही क्षणिक नहीं बल्कि आन्तरिक सूक्ष्म जगत् पर भी इस निरपवाद नियम को लागू बतलाया।

बुद्ध ने अपनी दार्शनिक विचार-धारा को समझाते हुए सत्य के दो रूप बतलाये हैं। एक सत्य वह है, जो गहराई में जाने पर चाहे ठीक न उतरता हो, पर व्यवहार के लिये वह पर्याप्त है। इसे व्यवहार सत्य या संवृति-सत्य कहते हैं। पत्थर, लोहा, काष्ठ को जिस रूप में हम देखते हैं, और उनसे उपयोग लेते हैं, यह संवृति सत्य है। पर, परमार्थ सत्य की दृष्टि से देखने पर यह मानना पड़ेगा, कि यह सब नेत्रों से न दिखाई देने वाले परमाणुओं से मिल कर बनी हैं। परमाणु भी ठोस चीज़ नहीं है, वह भी विद्युत्कण, नाभिकण के योग हैं। विद्युतकण ऐसी वस्तु है, कि जो एक स्थान पर क्षण भर के लिये भी नहीं टिकती। वैज्ञानिक उसे कण और तरंग दोनों कहते हैं। ऐसे भंगुर कण हैं, जो अपनी ऐसी परम्परा या धारा छोडते हैं, जिसको तरंग कहेंगे। यही बात नाभिकण के भीतर के पोज़िट्रान, न्यूट्रान, मेसोट्रोन के बारे में भी है। अर्थात् विश्व की आधारिक ईंटे परमाणुओं से भी सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, भंगुर, प्रवाह की तरह चलायमान हैं। इसे परमार्थ सत्य मानने पर फिर पत्थर, लोहा, काष्ठ के जिस रूप को हम सत्य माने हुये हैं, वह सत्य नहीं ठहरता। इस प्रकार आधुनिक विचार-शैली में भी हमें व्यवहार-सत्य और परमार्थ-सत्य का भेद रखना पड़ता है। इसी भेद को बुद्ध ने समझाया। आचार्य शान्ति देव ने कहा है—

संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतं।
(संवृति और परमार्थ यह दो सत्य माने गये हैं।)

प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा ही परमार्थ सत्य का बोध हो सकता है। प्रतीत्यसमुत्पाद को समझ कर ही बुद्ध के दर्शन को समझा जा सकता है। इसीलिये कहा है—'जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह धर्म

को देखता है। जो धर्म को देखता है, वह बुद्ध को देखता है।' (आर्य-शालिस्तम्भ सूत्र)

प्राचीन बौद्ध-सम्प्रदाय—जिसे हीनयान भी कहा जाता है—क्षणिकता (अनित्यता और प्रतीत्यसमुत्पाद), को मानता था। पीछे महायान् ने उसके अर्थ को और विकसित किया। जैसा कि ऊपर बतलाया, प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ, यही है: एक पदार्थ अतीत, अत्यन्त नष्ट हो जाता है, और दूसरा उत्पन्न होता है। जिसके नाश होने के बाद जो उत्पन्न होता है, वह उसका कार्य होता है। कार्य-कारण का केवल इतना ही सम्बन्ध है। कारण किसी भी वस्तु को अपने अन्तस्तम में बाकी रख कर नष्ट नहीं होता। यहाँ ऊपरी परिवर्त्तन नहीं, बल्कि एक का जड़-मूल से नाश और दूसरी बिल्कुल नई वस्तु की उत्पत्ति है। हरेक वस्तु किसी भी नित्य वस्तु से सर्वथा शून्य है। जिस तरह जड़ वस्तुयें आन्तरिक नित्य वस्तु से शून्य हैं, वैसे ही शरीर भी आत्मा जैसी नित्य वस्तु से सर्वथा शून्य है। इसीलिये बौद्ध अनात्मवाद को मानते हैं। अनात्मवाद ही शून्यवाद है, और प्रतीत्यसमुत्पाद भी शून्यवाद है—

'यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैवते मता।

(जो प्रतीत्यसमुत्पाद है, वही शून्यता है।)

और इसी शून्यता को अर्थात् जगत् के सारे पदार्थों की भंगुरता को योगियों के लिये ध्यान का विषय माना गया।

'तस्मान्निर्विचिकित्सेन भावनीयैव शून्यता॥'

यद्यपि शून्यता प्राचीनतम बौद्ध निकायों में भी पाई जाती है, पर उस पर सबसे अधिक जोर माध्यमिक दर्शन वाले महायान का है, जिसके प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन थे, जो ईसा की दूसरी शताब्दी में विदर्भ में पैदा हुये। वह शातवाहन राजाओं के सन्माननीय गुरु थे। उनका अधिक निवास श्रीपर्वत में होता था, इसीलिये उसका नाम नागार्जुन कोण्डा

(नागार्जुन पर्वत) पड़ा। इस दर्शन का मूल ग्रंथ नागार्जुन रचित 'माध्यमिक कारिका' है, जिसके समर्थन के लिये अनेक प्रज्ञापारमितायें, रची गईं। माध्यमिक दर्शन के अनुसार 'सारे सत्व, प्राणी माया-समान हैं, स्वप्न समान हैं, सारे धर्म (पदार्थ) माया और स्वप्न समान हैं।' यह दर्शन यथार्थवादी नहीं हो सकता, यह तो इसी से स्पष्ट है, कि स्वप्न और जागृत में यह भेद करना नहीं चाहता। दो साइकिल चलाने वाले चल रहे हैं। चलते-चलते भी उनका समागम हो सकता है, आमने-सामने आने पर वह किसी समय मिल सकते हैं। जिस समय सहगमन या मिलन हो रहा है, वह क्षण बहुत छोटा होता है, उसके बाद वस्तु दूर हो जाती है। पर, इसके कारण यथार्थवादी इसे माया समान, स्वप्न समान नहीं कह सकता। हम भोजन करते हैं। वह पेट में जाता है। उसका परिपाक होता है। उससे खून-मांस बनता है। अंग-अंग में वह पहुँचता है। क्षणभंगुरता के नियम के अनुसार हमारे शरीर का अंग-अंग क्षण-क्षण बदल रहा है। उसी बदलने वाली धारा में हमारा खाया अन्न भी योग दे रहा है। वह बदलते बदलते या भागते-भागते संवृति-सत्य के अनुसार कहने पर शरीर से बाहर हो जाता है। परमार्थ सत्य के अनुसार तो शरीर उसके अवयव, अन्य उसके कण अन्तिम रूप में अतिभंगुर विद्युत् कण, न्युट्रोन आदि ही हैं। भोजन कहीं भी काल और देश में स्थिर नहीं रहता। तो क्या उससे हम जागत अवस्था में खाये जाने वाले भोजन को भी स्वप्न का लड्डू मान लें? क्षणभंगुरता के साथ जो उसकी क्रिया-कारिता है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। इसीलिये यथार्थवादी बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने अर्थ क्रियाकारिता को परमार्थ-सत्य की पहचान बतलाया है। पर शून्यवादी इसे मानने के लिये तैयार नहीं हैं।

बुद्ध ने सभी पदार्थों को क्षणभंगुर निरोध-धर्मा माना। सभी वस्तुओं का जन्म होता है, जन्म के साथ ही वह कफन बाँध कर

अपने नाश को लिये आती हैं। लेकिन जब इस उत्पत्ति और निरोध को माया या स्वप्न समान हम मान लेते हैं, तो किसकी उत्पत्ति हुई और किसका निरोध हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। शून्यवादी कहते हैं—

'अजातमनिरुद्धं च तस्मात्सर्वमिदं जगत्।'

(इसलिए यह सारा जगत् अजन्मा और अविनाशी है।)

बुद्ध ने दुःख, उसके हेतु, उसके निरोध (विनाश) और इसके लिए आवश्यक मार्ग इन चार आर्य सत्यों का विवेचन किया। लेकिन माया और स्वप्न समान जागृत और यथार्थ वस्तुओं को भी मानने वाले शून्यवादियों को इन आर्यसत्यों की आवश्यकता नहीं रह जाती, कम-से-कम उनके परमार्थ सत्य में। इसलिए वह दुःख-सुख को भी कल्पित मानते हैं—उनका कोई अस्तित्व नहीं है, इसी बात पर जोर देते हैं। सुख-दुःख केवल कल्पना है, इसको दिखलाते हुए वह कहते हैं—

'अहिर्मयूरस्य सुखाय जायते
विषं विषाभ्यासवतो रसायनं।
भवन्ति चानन्दविशेषहेतवो
मुखं तुदन्तः करभस्य कण्टकाः।'

(सांप मोर के सुख के लिए जनमता है, विष विष के अमल वाले के लिए रसायन है। मुख को छेदते हुए कांटे ऊँट के आनन्द के विशेष कारण बनते हैं।)

वह इसके द्वारा बतलाना चाहते हैं, सुख या दुःख एक ही वस्तु के दो रूप हैं। इसलिए सुख या दुःख की अलग स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

प्रज्ञा को जिस रूप में बुद्ध ने माना, वह वस्तु-स्थिति के अपलाप के लिए नहीं, बल्कि वस्तुस्थिति जैसी है, उसे वैसी ही मानने के लिए विश्व और विश्व की हरेक वस्तु क्षण-क्षण परिवर्तनशील है, हरेक वस्तु

को इसी रूप में देखना चाहिए। पर, उससे वस्तु की क्षणिक स्थिति का भी अपलाप करना बुद्ध को और यथार्थवादी आचार्यों को अभीष्ट नहीं है। वह उस चरम पन्थ में नहीं जाना चाहते, जिसमें कि शून्य-वादी बौद्ध गये। शून्यवाद के प्रतिपादक नागार्जुन के ग्रन्थ से ही उनको सन्तोष नहीं है। उन्होंने शून्यता और प्रज्ञा को पर्याय मान कर प्रज्ञा पारमिता अर्थात् परमप्रज्ञा-सम्बन्धी बहुत से ग्रन्थ लिखे, जिन्हें बुद्धभाषित कह कर प्रकाशित किया गया और आज भी महायानी भक्त उसे उसी तरह मानते हैं। मूल संस्कृत में यद्यपि शतसाहस्रिका, अष्टसाहस्रिका जैसी दो-तीन ही प्रज्ञापारमितायें मिलती हैं, लेकिन तिब्बती में तीस और चीनी में नौ प्रज्ञापारमिताओं के अनुवाद हैं। ३२ अक्षरों को एक श्लोक मानकर उसके नाम से ग्रन्थों की परिमाण-गणना करके अष्टसाहस्रिका—आठ हजार श्लोक के बराबर—आदि उनके नाम दिये गये हैं। तिब्बती प्रज्ञापारमिता के अनुवाद कन्-जुर संग्रह की २१ पोथियों में हैं, जो ३२ अक्षरों के श्लोकों में नापने पर दो लाख श्लोकों से ऊपर होंगी। इनके नाम हैं—
१. शतसाहस्रिका २. पञ्चविंशतिसाहस्रिका ३. अष्टादशसाहस्रिका ४. दशसाहस्रिका ५. अष्टसाहस्रिका ६. पञ्चशतिका ७. शतपञ्चाशतिका (१५०), ८. पञ्चाशतिका (५०), ९. पञ्चविंशतिका (२५), १०. सप्तशतिका (७००), ११. अष्टशतिका (८००) १२. एकाक्षरी आदि। इनमें १, २, ४ और कुछ दूसरों के अनुवाद चीनी भाषा में भी मिलते हैं। इनके पढ़ने में आदमी ऊब जाता है, क्योंकि शतसाहस्रिका के एक लाख श्लोकों के पोथों की पुनरुक्ति हटाकर दस-बीस पन्नों का बनाया जा सकता है। पर, पाठ का बड़ा महातम समझा जाता है, इसलिये श्रद्धालु लोग बड़े मन से इनका पाठ करते हैं। सभी प्रज्ञापारमिताओं का एक ही अभिप्राय है: सभी शून्य है, सभी जगत् माया और स्वप्न समान है। इसकी सत्ता को मानना पागलपन से बढ़कर नहीं है।

प्रज्ञापारमिता के सम्बन्ध में जहाँ बड़े-बड़े पोथे लिखे गये और शून्यवाद को समझाने के लिये नागार्जुन, आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति आदि ने कितने ही गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ लिखे, वहाँ कवियों और कलाकारों को भी प्रज्ञापारमिता ने अपनी ओर आकृष्ट किया। प्रज्ञापारमिता और शून्यता एक ही है, यह बतला चुके हैं। महान् सिद्ध सरहपाद का जोर केवल करुणा और शून्यता पर है। वह अपने दोहाकोष 'चर्यागीति' में कहते हैं—

'करुण रहिअ जो सुण्णहिं लग्गा। णउ सो पावइ उत्तिम मग्गा।
अहवा करुणा केवल साहअ। सो जम्मन्तरे मोक्ख ण पावअ।
(करुणा-रहित जो सुन्नहिं लागा। नहिं सो पावै उत्तम मार्गा।
अथवा करुणा केवल साधै। सो जन्मान्तरे मोक्ष न पावै।)

सरहपाद शून्यता को—विश्वव्यापी क्षणभंगुरता के नियम को हरेक वस्तु पर लगाते, उसे शून्य मानने की योग-भावना को लेते हैं। करुणा प्राणिमात्र पर अपार दया है। सरह के बाद दूसरे सिद्धों ने भी करुणा और शून्यता पर जोर दिया। शून्यता—अनात्मवाद—मूल बुद्ध धर्म में भी मौजूद है, जिसे प्रज्ञा कहा गया है। इस प्रकार सिद्ध कवियों की भी प्रज्ञा एक प्रिय विषय है।

कलाकारों ने प्रज्ञा-पारमिता का बहुत सुंदर आकार कल्पित किया है। उसकी बड़ी सुंदर मूर्तियां बनाई गई हैं। जावा से प्राप्त प्रज्ञापारमिता की मूर्ति तो विश्व की सर्वसुंदर कृतियों में मानी जाती है, जिसमें पद्मासनस्थ द्विभुज देवी उपदेश देने की मुद्रा में कमलदल पर बैठी अर्ध-मुद्रित नेत्रों में दिखाई गई हैं।

———

बुद्ध का जोर शील (सदाचार) समाधि और प्रज्ञा (तत्वज्ञान) तीन बातों पर सबसे अधिक था। शील में अवैर को वह प्रधानता देते थे। अवैर के लिए वैर (दुश्मनी) के सभी कारणों को छोड़ना पड़ेगा। इस बात का प्रचार बुद्ध और बौद्धों ने केवल मौखिक नहीं किया, बल्कि इसे अपनी कार्य-प्रणाली का एक अंग बना लिया। बुद्ध और बौद्ध अपने विचारों को श्रेष्ठ मानते थे, पर उसे जबर्दस्ती दूसरे पर लादने का प्रयत्न नहीं करते थे। ज्ञान समझाने से दूसरे के दिमाग में प्रविष्ट होता है, बलात्कार से नहीं। इसी बात के कारण प्राचीन सभ्य जगत् के अधिकांश में छा जाने के लिए बौद्ध धर्म ने बलात्कार करने की कोशिश नहीं की। धर्मों के इतिहास में यह अभूतपूर्व दृष्टांत है। विश्व के दो और महान् धर्मों के इतिहास को हम जानते हैं, जिन्होंने बलात् अपने विचारों को लादने में आग और तलवार के इस्तेमाल करने में जरा भी आनाकानी नहीं की। दूसरे तरह की कार्य-प्रणाली में चरम सहिष्णुता की आवश्यकता होती है। प्रभुता के हाथ में आ जाने पर उसका उपयोग करके बरस दिन के रास्ते को छ महीने में तै करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। बौद्ध धर्म ने अपने विचारों के प्रसार के लिए जिस रास्ते का अनुसरण किया, वह था समझाकर विचारों में परिवर्तन लाना। उन्होंने अपने ग्रंथों को सुलभ और सुगम बनाने की कोशिश की। मुद्राओं को उलटे अक्षरों में लिखकर छापने का रवाज बहुत प्राचीन काल से सभी देशों में चला आया था, पर पुस्तक के छापने के लिए उसका इस्तेमाल चीन में पहले पहल उस समय हुआ, जबकि वहां के बौद्धों को अपने नित्य पाठ के ग्रन्थों को हजारों नहीं लाखों की संख्या में प्रस्तुत करने की आवश्यकता पड़ी। अपने ग्रंथों को सुगम और सुलभ वह तभी बना सकते थे, जबकि वह उन लोगों की भाषा में कर दिये जायें, जिनके विचारों में परिवर्तन लाना था। चीनी भाषा, बौद्ध धर्म के प्रवेश के समय भी बहुत उन्नत थी, इसीलिए बौद्धों को वहां

साहित्य-निर्माण का श्रीगणेश नहीं करना था, बल्कि पुराने साहित्य की भाषा का सहारा लेकर अपने विचारों और ग्रंथों को देना था। पर तिब्बत जैसे कितने ही ऐसे देश भी थे, जहां के लोगों की न कोई लिपि थी, न कोई साहित्य। बौद्धों ने तिब्बत में एक क्षण के लिए भी इस बात पर विचारने की जरूरत नहीं समझी, कि हम अपने विचारों को किस भाषा के माध्यम से प्रचारित करें। तिब्बती भाषा की कोई लिपि नहीं है, इस सवाल को तिब्बती सामन्तवर्ग ने हल कर दिया, जब अपने उच्चारणों के अनुरूप भारतीय लिपि में जरा सा परिवर्तन करके उन्होंने उसे अपना लिया। बौद्ध अच्छी तरह जानते थे कि कोई भी जाति मूक नहीं होती। उसकी अपनी भाषा होती है, जिसमें विचारों को प्रकट करने की काफी क्षमता होती है। आखिर संस्कृत में भी जिन धातुओं से शब्द बनते हैं, उनकी संख्या दो हजार से अधिक नहीं है, जिनमें भी एक-तिहाई ही काम में आते हैं, बाकी केवल तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के लिए ही उपयुक्त हैं। उन्होंने तिब्बती धातुओं का संग्रह किया, उसके उपसर्गों और प्रत्ययों को जमा किया; फिर उनके लिए भाषा की कोई कठिनाई नहीं रह गयी, और कल की साहित्यहीन भाषा आज इतनी उन्नत हो गयी, कि उसमें धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित के सूक्ष्म और गम्भीर विचारों को भी रखने में कोई दिक्कत नहीं थी। उन्होंने किसी देश में भी यह आग्रह नहीं किया, कि भारतीय भाषाओं में बौद्ध ग्रंथ के पाठ का अधिक पुण्य होता है। भाषा ही नहीं, कला के बारे में भी उन्होंने स्वदेशीपन का मान किया। आज की भाषा में हम कह सकते हैं, कि विचार बौद्ध किन्तु रूप राष्ट्रीय रखना उनकी कार्य-प्रणाली का मुख्य रूप था।

धार्मिक-क्षेत्र में बुद्ध और उनके अनुचरों का अधिक जोर मनके संयम और मानसिक शक्तियों के विकास पर था, जिसके लिए भावना और योग का उन्होंने सहारा लिया था। वह देववाद, देव-पूजा या,

बुद्ध-पूजा को साधारण लोगों के लिए ही आवश्यक समझते थे। देवताओं के बारे में भी वह उसी तरह उदार थे, जैसे भाषा और कला के सम्बन्ध में। हरेक देश के सम्मानित देवता बौद्धों की प्रमाणित देवमाला में सम्मिलित हो सकते थे। इसलिए "हमारे देवता-तुम्हारे देवता" का झगड़ा पैदा नहीं हुआ। बौद्ध देशों में जहां, भारत के इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवता सम्माननीय हैं, वहां स्थानीय देवताओं को भी उचित स्थान मिला है। संघर्ष का एक जबर्दस्त कारण जो हो सकता था, उसका इस प्रकार हल हो गया।

सामाजिक क्षेत्र में बुद्ध ने विषमता को हटाकर समता को स्थापित करने की कोशिश की थी, और वर्ण-व्यवस्था का जबर्दस्त विरोध केवल सिद्धांत के रूप में नहीं, बल्कि अपने शिष्यों (भिक्षुओं) और शिष्याओं (भिक्षुणिओं) की मण्डली में ब्राह्मण से चांडाल तक सभी जातियों के लोगों को सम्मिलित करके समान स्थान प्रदान किया। पुरानी व्यवस्था में जाति या जन्म के ख्याल से छोटा-बड़ा माना जाता था। बुद्ध ने उसकी जगह भिक्षु होने के काल को मुख्य रक्खा। बुद्ध के अपने शाक्य-वंश के लोग जाति का बड़ा अभिमान करते थे। उनके खानदानवाले अनुरुद्ध आदि बुद्ध के पास भिक्षु बनने के लिये जा रहे थे। साथ में नौकर उपालि नाई था। उपालि को ख्याल हुआ, जब ये लोग अपने धन-वैभव को छोड़कर भिक्षु बन रहे हैं, तो मैं भी क्यों न उनका अनुसरण करूँ। इस विचार को सुनकर अनुरुद्ध आदि ने कहा—'तब तुम्हें पहले भिक्षु बनना पड़ेगा। हम लोगों के खून में जाति-अभिमान है। यदि हम पहले भिक्षु बने और तुम बाद में, तो भगवान् के उपदेश के अनुसार छोटा होने के कारण तुम्हें हमारी वंदना करनी पड़ेगी, जिससे हमारा अभिमान अक्षुण्ण रहेगा। तुम अगर पहले भिक्षु बन जाओगे, तो हमारे ज्येष्ठ हो जाओगे, हम तुम्हारी वंदना करेंगे। इस प्रकार हमारे अभिमान को बल नहीं मिलेगा।' उन्होंने ऐसा ही किया। उपालि ज्येष्ठ भिक्षु बने और

अपनी योग्यता के कारण बुद्ध-निर्वाण के बाद बुद्ध के उपदेशों के संग्रह के लिये जो पहली परिषद् (संगीति) बैठी थी, उसमें वह एक विभाग के प्रधान थे, क्योंकि विनय (भिक्षु-नियमों) की अभिज्ञता में वह अद्वितीय समझे जाते थे। चीनी यात्रियों ने लिखा है (और आज भी कितने ही बौद्ध देशों में उसे देखा जाता है), जब कोई अपरिचित नवागन्तुक भिक्षु किसी विहार में आता था, तो उससे स्थानीय भिक्षुओं का पहला प्रश्न होता था—'आयुष्मान्, आप कितने वर्षों के हैं,' अर्थात् भिक्षु हुए आपकी कितनी वर्षाएँ बीती हैं ? बतलाने पर जब वह अधिक वर्षों का मालूम होता, तो स्थानीय भिक्षु अपना वर्ष बतलाकर अभिवादन करता। उनके यहाँ इसका कोई सवाल नहीं था, कि नवागत भिक्षु किस देश और किस जाति का है। विषमता को हटाने का लक्ष्य केवल भिक्षुओं के लिए ही नहीं रक्खा गया था, बल्कि बुद्ध ने साधारण लोगों में भी इसका प्रचार किया। यद्यपि बुद्ध और अपने सत्रह शताब्दियों के जीवन में बौद्ध धर्म ने भारत से जातिवाद (वर्ण-व्यवस्था को) हटाने में सफलता नहीं पायी, पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, यह नहीं कहा जा सकता। वर्ण-व्यवस्था के नष्ट न होने पर भी वह बहुत शिथिल हो गयी थी। खुद इसके जबर्दस्त पक्षपाती ब्राह्मणों पर भी प्रभाव पड़ा था। तभी १०वीं-११वीं शताब्दियों में बंगाल से लेकर पंजाब की सीमा तक ब्राह्मणों में फिर से कुलीनता स्थापित करने का प्रयत्न हुआ। कुछ ब्राह्मणों को इतना दूर समझा गया, कि उन्हें सम्मानित ब्राह्मण-सूची से खारिज कर दिया गया, जैसे मगध के बाभन। जात-पाँत और वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध जो भावना बुद्ध और उनके समकालीन तीर्थंकरों ने फैलायी थी, उसका प्रभाव भारत के सभी सन्तों और उनके अनुयायियों पर पड़ा, जिसे आज भी देखा जाता है।

राजनीतिक क्षेत्र में भी बुद्ध और बौद्ध धर्म की देन नगण्य नहीं है, यद्यपि उसमें उसको पूर्णतया असफल होना पड़ा। इसका दोष

उनके ऊपर नहीं बल्कि परिस्थितियों, (आर्थिक विकास की स्थिति) पर है। बुद्ध ने भिक्षुओं-भिक्षुणियों के संघ में पूर्ण साम्यवाद (communism) स्थापित करने का प्रयत्न किया। हाँ, उत्पादन में नहीं केवल उपभोग में ही। सम्पत्ति में केवल अपने शरीर पर के तीनों वस्त्रों (चीवरों) अस्तुरा, सूई, जलछक्का, भिक्षापात्र जैसी आठ चीजों को वैयक्तिक सम्पत्ति ठहराया, बाकी सारी सम्पत्ति जो विहार में होती उसका स्वामी संघ को माना। पुराने समय में उक्त आठों चीजों के अलावा जो भी छोटे-बड़े दान दिये जाते थे, उसे "आगत अनागत चातुर्दिश संघ" के लिये दिया जाता था। संघ को बुद्ध व्यक्ति से बड़ा मानते। बुद्ध के जन्म के सप्ताह बाद ही उनकी माँ मर गयी थी, और उनका लालन-पालन उनकी मौसी तथा सौतेली माँ प्रजापती गौतमी ने किया था। प्रजापती ने अपने हाथ से कात-बुनकर कपड़ा तैयार किया—'इसे मैं बुद्ध को चीवर के लिये दूँगी।' भेंट करने के लिये ले जाने पर बुद्ध ने प्रजापती से कहा—अच्छा है, तुम इसे संघ को दो। बुद्ध होने पर भी मैं व्यक्ति (पुद्गल) हूँ, व्यक्ति के लिये दिये दान की अपेक्षा संघ के लिये दिये दान का अधिक पुण्य होता है। उन्होंने उसे संघ के लिये दान दिलवाया। बुद्ध का साम्यवाद और संघवाद बहुत दिनों तक कैसे चल सकता था, जबकि उस समय का सारा समाज उसके विरुद्ध था। पर इससे प्रभावित होकर कितनों ही ने साम्यवाद की प्रेरणा ली थी। जिस तरह यूरोपियन साम्यवादियों (समाजवादियों) के प्रयत्न को हम तुच्छ नहीं कहते. बल्कि उनकी निःस्वार्थ सेवाओं का सम्मान करते हैं, उसी तरह बुद्ध द्वारा प्रचारित साम्यवाद का भी अपना स्थान है। तिब्बत के सम्राट् मुनि-चन्-पो पर इसका इतना प्रभाव पड़ा था, कि नवीं शताब्दी में उसने अपने यहां तीन बार धन का समवितरण कराया था। वह समझता था, कि लोगों के आर्थिक दुःखों का कारण आर्थिक विषमता है, जिसके हटाने से दुःख दूर हो जायगा।

उत्पादन के साधन उसके लिये कितने आवश्यक हैं, इसे न उसने समझा था, और न वह अभी सुलभ थे। सम-वितरण द्वारा साम्यवाद की स्थापना नहीं हो सकी, बल्कि दूसरों के कोप-भाजन बन अपनी माँ के हाथ से जहर खाकर मुनि-चन्-पो को मरना पड़ा।

राजनीतिक क्षेत्र में जनतांत्रिक गणराज्य बुद्ध को बहुत प्रिय था। वह स्वयं भी शाक्यों के गणराज्य में पैदा हुए थे। उस समय वैशाली समकालीन ग्रीस के अथेंस की तरह एक शक्तिशाली गण-राज्य की राजधानी थी। वैशाली और उसके लिच्छवियों के लिये बुद्ध के हृदय में बहुत प्रेम और सम्मान था। उन्होंने मगध के शक्तिशाली तथा बढ़ते हुए साम्राज्य के सामने वैशाली को अजेय रहने का संकेत किया था। उसी गण की व्यवस्था के अनुसार उन्होंने अपने भिक्षु-भिक्षुणियों के संघ में जनतंत्रता स्थापित की थी। संघ का नियंत्रण और शासन किसी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं, बल्कि सारे संघ के अधिकार में था। ऐसे कार्य के लिये बैठक में सदस्यों की कम से कम संख्या (कोरम) निश्चित करना आवश्यक था। बुद्ध ने मध्यमण्डल (उत्तर भारत और बिहार) में उसकी संख्या दस रक्खी थी और बाहर पांच। किसी प्रश्न पर संघ में मत-भेद नहीं हो सकता था। ऐसे समय बहुमत (यद्भूयसिक) के निर्णय को मान्य ठहराया था। बहुमत-अल्पमत जानने के लिये मतगणना की अपेक्षा थी। इसके लिये आज जिस तरह बैलेट-पर्ची का प्रयोग होता है, उसकी जगह संघ में मतदान के लिये पेंसिल की तरह की लकड़ियों (छंदशलाकाओं) को इस्तेमाल किया जाता था—'हां' और 'नहीं' के परिचायक दो रंग की शलाकाएँ होती थीं, जिन्हें संघ के लोग अपने मत के अनुसार ले लेते थे और अध्यक्ष (संघ-स्थविर) गिनकर बहुमत की घोषणा कर देता था।

बुद्ध सही अर्थों में शान्ति-दूत थे, इस में किसी को आपत्ति नहीं

हो सकती। उनका धर्म शान्ति का वाहक बनकर देश और विदेश में फैला। तत्कालीन राजनीतिक ढांचा अपने आर्थिक स्वार्थों के कारण उस शान्ति-सन्देश के अनुकूल नहीं था। पर प्रतिकूल परिस्थिति में भी उसने अपने ध्येय को नहीं छोड़ा। आज भी हम देखते हैं, बौद्ध विचारों से प्रभावित लोग शान्ति के सन्देश को बिना आनाकानी के मानने के लिये तैयार हो जाते हैं। पंचशील जिस तरह उनके लिये परममान्य है, वैयक्तिक और सार्वत्रिक दोनों रूपों में, उसी तरह शान्ति भी।

बुद्ध और बौद्ध धर्म की एक सबसे बड़ी देन वह है, जिसके कारण एशिया के सबसे अधिक भाग में मैत्री और आत्मीयता स्थापित हुई है। चीन में जाकर हमारा सांस्कृतिक मंडल क्यों आज इतनी आत्मीयता अनुभव करता है? चीनी सांस्कृतिक मण्डल भारत में आकर क्यों अपने को स्वजनों में आया समझता है? इसे कहने की आवश्यकता नहीं, इसका कारण बौद्ध धर्म और उसका प्रयत्न है। युरोप के अभिमानी लोगों ने भारत के प्रति सम्मान का भाव पहले पहल बौद्ध कृतियों से सीखा था। बुद्ध के जीवन और शिक्षा ने अरनॉल्ड को "एशिया का प्रकाश". (Light of Asia) जैसी अमर कविता को लिखने की प्रेरणा दी। उससे भी बहुत पहले १७ वीं-१८ वीं सदी में जब पूर्व में बढ़ते रूसियों का सम्पर्क बौद्ध मंगोलों से हुआ, तो उन्होंने बुद्ध की शिक्षाओं और बौद्ध धर्म की जिस उन्नत विचार धारा को देखा, उसने उन्हें प्रभावित किया। रूस, सदा से युरोप के दूसरे देशों की अपेक्षा उलटी भावना भारत के प्रति रखता रहा है अर्थात् भारत जंगलियों का नहीं, बल्कि सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली जाति का देश है—इसमें भी बौद्ध धर्म कारण हुआ था। दार्शनिक क्षेत्र में बौद्ध धर्म का अनीश्वरवाद ही नहीं, बल्कि उसका क्षणिकवाद (Dynamism) अनात्मवाद (non-Soulism) प्रतीत्यसमुत्पाद (Discontinuous continuity) जैसे विचार

मार्क्सवादी दर्शन के इतने नजदीक मालूम हुए थे कि एक बार सोवियत में उसके प्रति जरूरत से अधिक पक्षपात दिखाया जाने लगा था। दार्शनिक क्षेत्र में बौद्ध धर्म की देन उतनी ही बड़ी है, जितनी कला के क्षेत्र में। उसकी उड़ान उतनी ही ऊँची है जितनी अजंता की कला में हम उसे देखते हैं। साहित्यिक और दूसरे क्षेत्रों में भी उसकी सफलता के बारे में उसकी देन बड़ी है।

भारत की विशाल साहित्यिक निधि का एक काफी महत्वपूर्ण भाग मूल भाषा से लुप्त होकर अब चीनी और तिब्बती भाषा के अनुवादों में ही सुरक्षित है। हमारे सांस्कृतिक इतिहास तथा विचार-धारा को समझने के लिये यह जोड़ने वाली कड़ियाँ हैं। एक समय सैकड़ों वर्ष लगाकर भारतीयों और उनके चीनी या तिब्बती सहायकों ने लगकर इस विशाल साहित्य को अनुवाद के रूप में तैयार किया। समय जल्दी ही आयेगा जब कि हमें अपनी इस साहित्य-निधि को फिर से अनुवाद करके अपनी भारती भाषा में लाना होगा। चीनी भाषा में भारतीय साहित्य का अनुवाद-कार्य ईसा की प्रथम शताब्दी में क्या-ये मो-थङ् (काश्यप मातंग) के द्वारा आरम्भ हुआ और काश्यप ६७ ई० में भारत से चीन पहुँचे थे। उस समय से जो अनुवादों का कार्य आरम्भ हुआ वह १३ वीं शताब्दी के अन्त (मंगोल सम्राट कुबिलेखान के समय) तक चलता रहा। ६७-१३०० ई० तक जिन ग्रंथों का अनुवाद हुआ था उनमें से बहुत-से अब प्राप्य नहीं हैं, लेकिन अब भी साढ़े चौदह सौ ग्रंथ मौजूद हैं, जिनको बत्तीस अक्षर के श्लोकों में गिनने पर उनकी संख्या साढ़े तैंतीस लाख श्लोक या तीस-बत्तीस महाभारत के बराबर हैं। इन ग्रन्थों को सूत्र, विनय और अभिधर्मपिटक के तीन भागों में विभक्त किया गया है, यद्यपि पिटक के भीतर "बुद्ध चरित" जैसे काव्यों को भी शामिल कर लिया गया है। तीनों पिटकों के ग्रन्थ महायान और हीनयान के भेद अनुसार निम्न संख्या और परिमाण में हैं—

जा ४००-४१३ ई० के बीच राजधानी छाङ्-आन् में रह कर उन्होंने निम्न चार ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी में अनुवाद किया—

१. आकाशगर्भ बोधिसत्व सूत्र सन० ननजियो		सूचीपत्र संख्या ६८
२. दीर्घागम	,,	५४५
३. धर्मगुप्त-विनय	,,	१११७
४. धर्मगुप्त-प्रातिमोक्ष	,,	,,

बुद्धयश द्वारा अनुवादित दीर्घागम प्रायः तेरह हजार श्लोकों के बराबर है। उसी का दूसरा सूत्र यह 'महापरिनिर्वाण-सूत्र' है। इस सूत्र के एक से अधिक अनुवाद हुए थे। यह महापरिनिर्वाण सूत्र जहाँ हीनयान त्रिपिटक के दीर्घागम या दीघनिकाय का एक सूत्र है, वहाँ महायान का अपना अलग और बहुत विशाल महापरिनिर्वाण सूत्र भी मौजूद है। जिस सम्प्रदाय (निकाय) का एक समय भारत में बहुत प्रचार था। उसका नाम और पिटक दोनों ही आज विस्मृत हो चुके हैं। लेकिन सौभाग्य से चीनी अनुवाद में विस्मृत हीनयान 'मध्यमागम' (५४२), 'एकोत्तरागम' (५४७), संयुक्तागम' (५४४) और 'दीर्घागम' (५४५) चीनी अनुवाद में मौजूद हैं। इनके अतिरिक्त विनय पिटक और त्रिपिटक के बृहत्भाष्य (विभाषायें) भी मौजूद हैं, इन ग्रन्थों से हमारे सांस्कृतिक इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

बुद्धयश ने उस समय चीन में जाकर हमारे इस महान् सांस्कृतिक काम को किया जब कि भारत में गुप्तवंश के सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन था और जिस समय कालिदास और दिग्नाग जैसी प्रतिभायें भारत में अपना चमत्कार दिखला रही थीं। इन्हीं के समय फाहियान भारत की यात्रा के लिये आया।

प्रज्ञाकरगुप्त (सातवीं शताब्दी), शान्तरक्षित (आठवीं शताब्दी), कमलशील (नवीं शताब्दी), जितारि (दसवीं शताब्दी) रत्नाकर शान्ति (ग्यारहवीं शताब्दी), शाक्य श्रीभद्र (बारहवीं शताब्दी) जैसे महान् दार्शनिक पैदा हुये। भारत से बाहर चीन, जापान, सुवर्णद्वीप, तिब्बत, मंगोलिया ने भी बहुत से उच्च कोटि के बौद्ध विचारक पैदा किये। यह खेद की बात है कि भारतीय और बृहत् भारतीय विचारकों के विचारों का क्रमबद्ध इतिहास अभी किसी भाषा में नहीं लिखा गया।

शून्यता का ही नाम अनात्मवाद भी है। बुद्ध ने जब आत्मा ही से इन्कार कर दिया तो परमात्मा या ईश्वर की बात ही क्या? बुद्ध महान् थे। हमारे देश ने वैसे महान् दूसरे व्यक्ति को नहीं पैदा किया। उनके विचारों से पूर्णतया सहमत न होते हुए भी हम उनके प्रति श्रद्धा रख सकते हैं, लेकिन जिन विचारकों को उन्होंने प्रकट किया, उनसे उलटी बात उनके मत्थे मढ़नी बुरी बात है। यदि ऐसा न जान कर किया जाये तो यह अज्ञता है और उसे क्या कहना चाहिये। २ मई (१९५६) की राज्य-सभा में डा० अम्बेडकर कुछ बोल रहे थे। पार्लियामेन्ट के किसी सदस्य ने कह दिया—"आपकी आत्मा को भगवान् बचाये।" इस पर अम्बेडकर ने कहा—"मेरे पास आत्मा नहीं है। मैं बौद्ध हूँ। मेरी आत्मा की शान्ति के लिये प्रार्थना करने को किसी को कष्ट करने की जरुरत नहीं। मैं ईश्वर को नहीं मानता, आत्मा को नहीं मानता।" अम्बेडकर अध्ययनशील और विचारशील पुरुष हैं। उनके सभी राजनीतिक विचारों से सहमत होने की जरूरत नहीं है पर उनकी योग्यता और देश के सबसे अधिक उत्पीड़ित जनता के लिये उनकी सेवाओं से इनकार नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपने को अनीश्वरवादी और अनात्मवादी बौद्ध घोषित किया तो यह बौद्ध विचार-धारा का अच्छी तरह अवगाहन करके ही। पर, उसके तीन दिन बाद (५ मई के) "हिंदुस्तान स्टैण्डर्ड" में उसके

योग्य सम्पादक ने अपनी संक्षिप्त टिप्पणियों में अम्बेडकर के विचारों को शुद्ध हुए करते कहा—'लेकिन, वह एक बहुत ही विवादास्पद विषय में दाखिल हो रहे हैं, यदि दावा करते हैं कि बौद्ध-दर्शन पूरी तौर से अनात्मवाद के विचार को मानता है।' इसे हम क्या कहें? अज्ञता या ईमानदारी से नाता तोड़ना? बौद्ध-दर्शन अनीश्वरवादी, अनात्मवादी है, इसका निर्णय वह दार्शनिक करेंगे, जिनके नाम अभी हमने ऊपर दिये हैं, या ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे? बौद्ध विचारकों में इसके बारे में कभी सन्देह नहीं हुआ। बुद्ध का दर्शन अनात्मवाद का दर्शन है। बुद्ध ने स्वयं कहा है—सब्बं अनिच्चं, सब्बं दुक्खं, सब्बं अनत्ता (दुनिया के सभी पदार्थ अनित्य, दुःख अनात्म है।) बिना अपवाद दुनिया की सभी वस्तुओं को अनित्य मानने ही के कारण बुद्ध की विचारधारा में आत्मा, ईश्वर जैसे किसी नित्य पदार्थ की गुंजाइश नहीं रह जाती।

लोग श्रद्धेय व्यक्ति को तोड़-मरोड़ कर अपने जैसा बनाना चाहते हैं। आखिर आदमी अपने इष्टदेव को भी अपने रूप-गुण के साथ ही देखने की कोशिश करता है। प्राचीन थ्रेस के लोग अपने देवताओं को लाल बालों और अतिगौर मुंह वाले मानते थे। वैदिक आर्य अपने इन्द्र को सुनहरी मूंछ-दाढ़ी और सुनहले केशों वाला मानते थे। इसी तरह हमारे आजकल के विचारक भी बुद्ध के प्रति-श्रद्धा रखते उनके विचारों को अपना रूप देना चाहते हैं। लेकिन आज के युग में इस तरह की तोड़-मरोड़ नहीं चल सकती। बुद्ध के अनात्मवादी--अनीश्वरवादी रहते भी हम उनके प्रति श्रद्धा रख सकते हैं, क्योंकि वह हमारी संस्कृति के एक महान् उन्नायक थे। भारतीयों को एकता के सूत्र में आस्तिकवाद ने नहीं पिरो रक्खा है, न उसकी जरूरत है। ब्राह्मणों के भी मान्य छ दर्शनों में तीन—सांख्य, वैशेषिक और मीमांसा—अनीश्वरवादी हैं, लेकिन उसके कारण उनके कर्त्ताओं को लोग भगवान् कपिल, भगवान् कणाद

और भगवान् जैमिनि कहने से बाज नहीं आते। अपने उग्रवादी विचारों को रखने वाला महापुरुषों को उनके विचारों से रहित करते आस्तिक बनाना, 'लौटो गुहा-मानव की ओर, की मनोवृत्ति है।

यह निश्चय है, अनात्मवाद आदि के बारे में बौद्धों में कभी मतभेद नहीं हुआ। उनमें विचार भेद हुये हैं, उन्हीं के कारण १८ सम्प्रदाय (निकाय) हुए। फिर हीनयान, महायान, वज्रयान जैसे पंथ स्थापित हुए। पर कुछ विचार मौलिक हैं, जो पालि और दूसरे पिटकों में एक से मिलते हैं। बुद्ध ने जिस समय अनात्मवाद पर जोर दिया उस समय उपनिषद् के आत्मवाद का जोर था। उपनिषदों में आत्मा को नित्य शुद्ध, परम तत्व माना जाता था। उसी के श्रवण-मनन-निदिध्यासन में लगना सबसे बड़ा कर्तव्य माना जाता था। बुद्ध के समय की दुनिया आत्मा के पीछे पागल थी जैसा कि फिर बीसवीं सदी के पुनर्जागरण में करने की कोशिश की जा रही है—इस आत्मवाद अर्थात् परिवर्तनशील संसार और उसकी वस्तुओं के पीछे एक नित्य चेतनसत्ता है। इस विचार से ही मुक्ति दिलाते बुद्ध ने अनात्मवाद का प्रचार किया। उपनिषद् सत्--चित्--आनन्द की घोषणा करता है। बुद्ध उससे बिल्कुल उलटे—अनित्य, अनात्म, दुःख की घोषणा करते हैं। दोनों में समन्वय करने की कोशिश करना व्यर्थ है। जिसको जो पसन्द हो, उसे स्वीकार करे, किन्तु दूसरे के मुँह में अपनी बात डालना अनुचित है। आजकल के वैज्ञानिक और प्रगतिशील विचार-धाराओं से मुकाबिला किया जाये तो बुद्ध और बौद्ध विचारक उसके बहुत नजदीक मालूम होते हैं।

इन्हीं विचारकों के प्रयत्न से हमारे देश ने उदारता का पाठ पढ़ा। सामाजिक तौर से हम बड़े संकीर्ण रहे। म्लेच्छ का छुआ पानी पी लेने से आदमी सदा के लिए धर्मभ्रष्ट हो जाता था। खाने-पीने में अपने जात के चौके से बाहर निकलने की कोई हिम्मत नहीं

करता था। मेरे पड़ोस में एक अहीर चौधरी रहते हैं। पचास वर्ष से अधिक हो गये, अपनी जन्मभूमि बाराबंकी जिले को छोड़कर वह मंसूरी में चले आये। पांच-सात वर्ष बाद कभी मेहमान की तरह कार्य-प्रयोजन में दो-चार दिन के लिए घर गये होंगे, इसलिए उन्हें अभी पुरानी बातें याद आती हैं। इस साल (१९५६ ई०) यहां सैनिक नान-कमीशण्ड आफीसरों का प्रशिक्षण चल रहा था। उसमें चाय-रोटी बनाने वाले मुसलमान बावर्ची भी थे। चौधरी जी को आश्चर्य हो रहा था। कह रहे थे—हमारे यहां होता तो हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता। मैंने कहा—चौधरी जी, हुक्का पानी बन्द करनेवाले चौधरी चल बसे। तुम्हारे यादव मन्त्री, उपमन्त्री या बड़े-बड़े लोग अब इसी तरह सबके हाथ का रोटी-पानी ग्रहण करते हैं, उनको कोई जात से निकाल नहीं सकता।" लेकिन यह भी ठीक है कि एक शताब्दी पहले क्या एक ही पीढ़ी पहले जरा सा भी खान-पान में मनमानी करने पर जाति और धर्म से ढकेल कर बाहर कर दिया जाता था। इतनी संकीर्णता होने पर भी जहां तक विचारों का सम्बन्ध है, हम बहुत उदार थे। ईश्वर माने तो भी महात्मा, ईश्वर न माने तो भी महात्मा माना जाता था—'वादे वादे जायते तत्वबोधः।' इसीलिये किसी के वाद को जबर्दस्ती दबाने की कोशिश नहीं की जाती थी। अहिन्दू धर्मों में खान-पान जैसी बातों में अपेक्षाकृत अधिक उदारता थी, लेकिन विचार-स्वातन्त्र्य को वह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। इसीलिए पांचवी शताब्दी के आर्यभट्ट ने जब पृथ्वी को सूर्य के किनारे घूमती बतलाया तो किसी ने उनको आग में जलाने का ख्याल भी नहीं किया। यद्यपि युरोप में ईसाई पुरोहितों ने वैज्ञानिक आविष्कारकों में से कितनों को आग में जलाया या दूसरी तरह से मारा।

विचारों की जो सहिष्णुता भारतीय संस्कृति का अंग बन गई है, वह एक दिन का काम नहीं था। शताब्दियों में हम इस योग्य

बन सके। जिन लोगों ने इस दिशा में प्रयत्न किया, उनमें बौद्ध सबसे अधिक और आगे रहे।

यह तो निश्चय ही है कि बौद्ध-धर्म के लुप्त हो जाने पर भी बौद्ध विचारकों के विचार हमारे वातावरण से लुप्त नहीं हुये वह हमें दायभाग में मिले। सभी बौद्ध विचारकों को यहाँ देना सम्भव नहीं है तो भी हम कुछ को देते हैं।

नागसेन—ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में पंजाब में हुये थे। यवन (ग्रीक) राजा मिनांदर के साथ इनका जो समालाप हुआ था। वह 'मिलिंद प्रश्न' के रूप में हमारे सामने आज भी मौजूद है। अनात्मवाद के बारे में शंका उठाते हुये मिनांदर पूछता है—

'भन्ते, यदि जीव कोई चीज ही नहीं है तो हम लोगों में वह क्या है, जो आँख से रूपों को देखता है, कान से शब्दों को सुनता है, नाक से गंधों को सूंघता है, जीभ से स्वादों को चखता है, शरीर से स्पर्श करता है और मन से 'धर्मों' को जानता है।'

नागसेन जवाब देते हैं—

'महाराज, यदि शरीर से भिन्न कोई जीव है, जो हम लोगों के भीतर रह आँख से रूप को देखता है तो आँख निकाल लेने पर बड़े छेद से उसे और भी अच्छी तरह देखना चाहिये। कान काट देने पर बड़े छेद से उसे और भी अच्छी तरह सुनना चाहिये। नाक काट देने पर उसे और भी अच्छी तरह सूँघना चाहिये। जीभ काट देने पर उसे और भी अच्छी तरह स्वाद लेना चाहिये और शरीर को काट देने पर उसे और भी अच्छी तरह स्पर्श करना चाहिये।'

'मिनांदर—'नहीं भन्ते, ऐसी बात नहीं है।

नागसेन—'महाराज, तो हम लोगों के भीतर कोई जीव भी नहीं।'

मातृचेट—मातृचेट कनिष्क के समय ईसवी प्रथम शताब्दी में

थे। कनिष्क ने बौद्ध महापरिषद् में आने के लिये उन्हें निमंन्त्रित किया था, लेकिन बुढ़ापे के कारण उन्होंने आने में अपनी असमर्थता प्रकट की थी और कनिष्क के नाम एक पत्र लिखा था, जिसका तिब्बती और चीनी अनुवाद अब भी मिलता है। उन्होंने 'अध्यर्द्धशतक के नाम से १५० श्लोकों में बुद्ध की स्तुति रची थी। इसे नालन्दा में आरम्भिक कक्षा के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता था इसी से इसकी सर्वप्रियता का पता लगेगा। मातृचेट् बुद्ध की गम्भीर और सुन्दर सूक्तियों की प्रशंसा करते कहते हैं—

सुपदानि महार्थानि तथ्यानि मधुराणि च।
गूढोत्तानोभयार्थानि समासव्यासवन्ति च॥ १॥
कस्य न स्यादुपश्रुत्य वाक्यान्येवंविधानि ते।
त्वयि प्रतिहतस्कापि सर्व्वज्ञ इति निश्चयः॥ २॥

(सुपद, महार्थ, तथ्य, मधुर, गूढ़-स्पष्ट, दोनों अर्थवाले, संक्षिप्त विस्तृत तुम्हारे वाक्यों को सुन कर किस को तुम्हारे बारे में सब-जाननेवाला निश्चय यह न होगा।)

इन्हीं दार्शनिक रूढ़ि विरोधी विचारधाराओं को देख-सुन कर लोग बुद्ध की ओर आकृष्ट होते रहे।

असंग (४०० ई०)—यह पेशावर में पठान ब्राह्मण कुल में पैदा हुये। इस महान् दार्शनिक का महत्व इसी से मालूम होगा कि यह योगाचार-दर्शन या (विज्ञानवाद) के प्रवर्तक थे। इसी विज्ञानवाद को गौडपाद ने 'मांडूक्यकारिका' (आगमशास्त्र) में स्वीकार किया। गौडपाद ने अपने विचारों को अपने अनुगामी आचार्य शंकर की तरह छिपाना नहीं चाहा। उन्होंने अपनी कारिकाओं में द्विपदवर बुद्ध को प्रणाम किया है। 'बुद्धैः प्रणातिः परिदीपिता' में बुद्ध के वचन को प्रमाण के तौर पर माना है। बुद्ध और अग्रयान (महायान) का उल्लेख किया है। बौद्ध-दर्शन की जिस विचार धारा को गौडपाद ने

स्वीकार किया, वह असंग का ही दर्शन है। असंग विश्व के मूल उपादान तत्व को विज्ञान मानते हैं, लेकिन यह विज्ञान भी बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार क्षण-क्षण परिवर्तनशील, अनित्य है। गौडपाद ने उसे अलातचक्र (बनेठी के चक्कर) की तरह मानते गतिशील माना, पर शंकर ने उसको कूटस्थ नित्य मान कर उसे बौद्ध-दर्शन की जगह उपनिषद् के दर्शन से जोड़ने का प्रयत्न किया।

असंग का महान् ग्रंथ 'योगाचारभूमि' है, जिसके तिब्बती और चीनी में अनुवाद थे, लेकिन संस्कृत मूल से लोग निराश हो चुके थे। इन पंक्तियों के लेखक को यह मूल ग्रन्थ तिब्बत में मिला, जिसे महामहोपाध्याय पं० विधुशेखर भट्टाचार्य आजकल सम्पादित करके प्रकाशित करा रहे हैं। असंग अनित्यता के बारे में कहते हैं—'इसे कोई दूसरा नहीं जनमाता और न वह स्वयं उत्पन्न होता है। प्रत्येक के होने पर भाव (वस्तुयें) पुराने नहीं बिल्कुल नये-नये जनमते हैं।.... प्रत्यय के होने पर भाव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हो स्वरस (स्वतः) ही क्षणभंगुर हैं।'

क्षणभंगुर या क्षणिकता को ही प्रतीत्यसमुत्पाद् कहते हैं। प्रतीत्य अतीत हो जाने के (नष्ट हो जाने के) बाद उत्पाद या उत्पत्ति प्रतीत्यसमुत्पाद है। इसको साफ करते हुये असंग कहते हैं—

'प्रतीत्य-समुत्पाद क्या है? निःसत्व (अन्-आत्मा) के अर्थ में निःसत्व होने से अनित्य है, इस अर्थ में। अनित्य होने पर गतिशील के अर्थ में। गतिशील होने पर परतंत्रता के अर्थ में। परतन्त्र होने पर निरीह के अर्थ में। निरीह होने पर कार्य-कारण (हेतु-फल) व्यवस्था के खण्डित हो जाने के अर्थ में। कार्य-कारण व्यवस्था के खंडित होने पर अनुकूल कार्य-कारण की प्रवृत्ति के अर्थ में। अनुरूप कार्य-कारण की प्रवृत्ति होने पर कर्म के स्वभाव के अर्थ में।

'अनित्य, दुःख, शून्य और नैरात्म्य (नित्य आत्मा की सत्ता को

अस्वीकार करना) के अर्थ में होने से भगवान् (बुद्ध) ने प्रतीत्य-समुत्पाद के बारे में कहा "प्रतीत्य-समुत्पाद गम्भीर है।" वस्तुयें प्रतिक्षण नये-नये रूप में जीवन-यात्रा (प्रवृत्ति) करती हैं। प्रतीत्य समुत्पाद क्षणभंगुर है।

आत्मा, सत्व, जीव, पोस या पुद्गल नामधारी एक स्थिर सत्य तत्व को मानना आत्मवाद है। उपनिषद् का यही प्रधान मत है। असंग इनका खंडन करते हैं—

'जो देखता है वह आत्मा है, यह भी युक्ति-युक्त नहीं। आत्मा की धारणा न प्रत्यक्ष पदार्थ में होती है न अनुमान-गम्य पदार्थ में ही। यदि चेष्टा (शरीर-क्रिया) को बुद्धिहेतुक मानें, तो आत्मा चेष्टा करता है यह कहना ठीक नहीं। नित्य आत्मा चेष्टा कर नहीं सकता। नित्य आत्मा सुख-दुःख से भी लिप्त नहीं हो सकता।

बौद्ध विचारकों के स्पर्श मात्र से कूटस्थ नित्य अन्तर-बहिर्जगत् की दीवार के कण-कण हिल गये और किसी तरह की रूढ़ि या दार्शनिक कल्पना उसे फिर पहले की तरह स्थिर करने में समर्थ नहीं हुई। हिमीभूत विचार सागर पिघल कर लहरें मारने लगा। हरेक क्षेत्र में भारतीय दिमाग पुराणमित्येव न साधु (पुराना है, इसलिये ठीक है), इस ख्याल को छोड़ कर नई-नई कल्पनायें और प्रयोग करने लगा। हमारे वैयाकरणों ने 'यथोत्तर'—पहले से पहले नहीं, बल्कि आधुनिकतम विचारों को मान्य ठहराया है। वही बात दूसरे क्षेत्रों में भी मानी जाने लगी है। पुराने आचार्य हमारे श्रद्धा और सम्मान के भाजन हैं, किन्तु प्रमाणता आधुनिकतम आचार्य की होनी चाहिए क्योंकि वह पहले के आचार्यों की ज्ञान-निधि के धनी होते नवीन ज्ञानों के भी मालिक हैं।

बौद्ध विचारकों ने दर्शन में पुरानी रूढ़ियों पर जबर्दस्त प्रहार किया। उनके तर्कों का जवाब नहीं हो सका, यद्यपि आत्मवादी-

ईश्वरवादी दार्शनिकों ने इसके लिये पोथे पर पोथे लिखे । प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण बौद्ध-धर्म भारत से लुप्त हो गया। यह कहा जा सकता है। १६ वीं शताब्दी के अन्त तक बुद्ध को भारतीय एक तरह बिल्कुल भूल गये। पर आज क्या देख रहे हैं? बुद्ध डंका बजाते हुए फिर भारत में आ रहे हैं। २५ वीं शताब्दी के जगह-जगह होते यह महोत्सव इसी बात को बतला रहे हैं। धर्म निरपेक्ष सरकार करोड़ों रुपया इस महोत्सव के लिये खर्च कर रही है, यह अनीश्वर-वादी-अनात्मवादी बुद्ध की महाविजय है।

सामाजिक क्षेत्र में बौद्धों ने जात-पांत के खिलाफ अपनी जबर्दस्त आवाज उठाई और उसका प्रभाव भी काफी पड़ा। एक समय जात-पांत में बहुत शिथिलता आ गई थी, जिसके लिए दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में राजाओं की सहायता से ब्राह्मणों ने कुलीन प्रथा को स्थापित किया—बंगाल में भी, मिथिला में भी, सरजूपारियों में भी, कान्यकुब्जों में भी। उन्होंने समझा, हमने जातिवाद की नींव को वज्र कर दिया। लेकिन आज वह भी खिसक रही है। बीसवीं शताब्दी के मध्य में अभी छिट-फुट जात-पांत-तोड़क शादियां हो रही हैं। इस शताब्दी के अन्त तक इसकी भी हालत वही होने वाली है, जौ कि खान-पान की छूआछूत के बारे में आज देखी जा रही है।

राजनीतिक विचार-क्षेत्र में बुद्ध और बौद्धों ने अपने संघ द्वारा गणराजीय जनतांत्रिकता को स्वीकार किया। "विनय-पिटक" हमारे सामने है, जिसमें बतलाया गया है कि एक सर्वाधिकार सम्पन्न व्यक्ति के बिना भी जन समूह (संघ) अपना काम चला सकता है। निर्णय में बहुमत (यद्भूयसिक) को अन्तिम मानना होगा। संघ ने वैलेट द्वारा वोट लेने की प्रथा स्वीकार की थी। संघ में बैलट में कागज की जगह लकड़ी की शलाकायें इस्तेमाल की जाती थीं, जिन्हें छन्द शलाका

कहते थे। अभी भारत में कागज नहीं आया था। लिखा-पढ़ी में लकड़ी की पट्टियां, तालपत्र और भोजपत्र का उपयोग किया जाता था।

साहित्य के क्षेत्र में बौद्ध लोकभाषा के हमेशा पक्षपाती रहे। बुद्ध ने स्वयं अपने सूक्तों को छन्द (वैदिक) जैसी स्थिर भाषा में अनुवाद करने को मना करके अपनी-अपनी भाषा में बुद्धवाणी को पढ़ने का आदेश दिया था। बौद्धों ने इसका बराबर अनुसरण किया। इसीलिए उनकी कृतियां उनके मनीषी साहित्यकार और कवि लोक भाषाओं में लिखते थे। पालि हमारे सामने मौजूद है। प्राकृत के सैकड़ों ग्रन्थों का अनुवाद चीनी में है, लेकिन प्राकृत के बाद अपभ्रंश के तो आदि कवि ही बौद्ध सिद्ध हैं। सरह-पाद इस भाषा के प्रथम कवि हैं। सबसे पहले दोहा और चौपाई छन्द सरह की कृतियों में मिलते हैं। सरह को द्वितीय बुद्ध कहा जाता है और अपने विचारों में वह अत्यन्त विलक्षण अनुपम थे। वह ब्राह्मण फिर शास्त्रों को पढ़ कर महान् पण्डित, फिर नालन्दा में आचार्य की गद्दी पर बैठ कर अध्यापक, राजामात्यों द्वारा सम्मानित थे। अपने आस-पास का जीवन कृत्रिम मालूम हुआ। इस जाल को तोड़ने में उन्होंने जरा भी दया-माया नहीं दिखलाई! काषाय वस्त्र को दूर फेंका—इतना भी पर्याप्त नहीं था। दुनिया से मिलने वाले सारे सम्मान पर लात मारने के लिए यह काफी नहीं, "हमें ऐसा रास्ता लेना है, जो इससे बिलकुल उलटा हो" वह ऐसा समय था। जब कि धनुष-बाण को परमास्त्र माना जाता था। बाण बनाने वाली एक अलग जाति थी, जिसे सरहा कहते थे। एक सरहा की लड़की उन्होंने ली और सरहों की तरह बाण बनाते इधर से उधर घूमने लगे। अब भला उनका सम्मान कौन कर सकता था? लोग उनको पामर समझते इससे उन्हें प्रसन्नता थी। उन्होंने कृत्रिम जीवन, जंजाल को तोड़ लिया, पर यह पर्याप्त नहीं था! वह दूसरों को भी जंजाल तोड़कों